ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

दश धर्म प्रवचन

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में समागत दश धर्म के स्वरूप पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन

गुजराती सङ्कलन :
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़

हिन्दी अनुवाद :
मगनलाल जैन
ललितपुर

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

पुनरीक्षण :
पवन जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ (उ०प्र०)

प्रकाशन सहयोग :
श्रीमती शान्ताबेन के० गाँधी
43-बी, सिल्वर अपार्टमेन्ट
एस० जी० मार्ग दादर, मुम्बई - 400028

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
शुक्रवार, 03 फरवरी 2010 (सप्तम वर्षगाँठ महोत्सव)
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

ISBN NO. : 81-903074-7-9
विक्रय मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र

प्राप्तिस्थान / **Available At -**

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर, जयपुर

प्रकाशकीय

वीतरागतारूप आत्मधर्म के प्रतीक, शाश्वत पर्व दशलक्षण के स्वरूप पर प्रकाश डालनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचन **'दश धर्म प्रवचन'** नाम से प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् १९७८ की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्या मताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार ४५ वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री एवं पूज्य बहिनश्री के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन किया जा रहा है।

आचार्य भगवान श्री पद्मनन्दिदेव द्वारा रचित पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में समागत दश धर्मों के स्वरूप पर पूज्य गुरुदेवश्री ने लगभग सन् १९५०-५१ में ये प्रवचन प्रदान किये हैं, जो हिन्दी एवं गुजराती में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।

दशलक्षण पर्व ही ऐसा पर्व है, जिसे सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज अत्यन्त उत्साह से मनाती है। इन दिनों वे लोग भी जिन मन्दिर आते हैं, जो वर्ष में इन दिनों के अलावा नहीं आते। मन्दिरों में जिनेन्द्र पूजन, मण्डल विधान एवं स्वाध्यायादि के कार्यक्रम आयोजित होते हैं। दश धर्मों के स्वरूप पर स्वाध्याय होता है। यद्यपि यह पर्व प्रत्येक वर्ष में तीन बार आता है, तथापि भाद्रपद शुक्ल पञ्चमी से चतुर्दशी तक तो विशेषरूप से मनाया ही जाता है।

पर्व के इन दिनों में पूज्य गुरुदेवश्री भी दश धर्मों पर गम्भीर आध्यात्मिक शैली में प्रवचन प्रदान किया करते थे, उसी का सङ्कलन ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, सोनगढ़ के प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में गुजराती में किया

था, जिसका हिन्दी रूपान्तरण कार्य श्री मगनलाल जैन, ललितपुरवालों ने किया था।

विगत कई वर्षों से यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में अनुपलब्ध होने से हमने इसके प्रकाशन का निर्णय लिया है। प्रकाशन से पूर्व इसमें अनुवाद एवं सम्पादन सम्बन्धी आवश्यक संशोधन **मङ्गलायतन** के विद्वान् श्री देवेन्द्रकुमार जैन, द्वारा किये गये हैं, जिन्हें मैंने भी आद्योपान्त पढ़ा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनकर्ता के रूप में हमें **श्रीमती शान्ताबेन के० गाँधी परिवार, मुम्बई** का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है —तदर्थ यह परिवार धन्यवाद का पात्र है।

सभी स्वाध्यायी आत्मार्थीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित के सम्मुख हों — इसी भावना के साथ —

दिनाङ्क, ०१ फरवरी २०१०
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

परम पूज्य आचार्य पद्मनन्दिदेव द्वारा रचित पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में समागत दश धर्मों के स्वरूप पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण मङ्गल प्रवचनों का यह सम्पादित संस्करण, सद्धर्मप्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

दशलक्षण पर्व, वर्ष में तीन बार — चैत्र, भाद्रपद और माघ माह में शुक्लपक्ष की पञ्चमी से चतुर्दशी तक आता है, पर सामान्यतः भाद्रमाह में ही इसे मनाने की परम्परा सदियों से चली आ रही है।

सत्य तो यह है कि पर्व, किसी तिथि अथवा दिनों में नहीं है; पर्व शब्द का अर्थ तो 'पवित्रता' होता है, जो कि मोह-राग-द्वेषरूप विकारीभावों के अभावरूप वीतराग परिणतिरूप होता है। जिस आत्म परिणति में यह पवित्रता प्रगट होती है, उसके लिए तो सदा ही पर्व है। **दिनों अथवा तिथियों में पर्व नहीं, पर्व का उपचार होता है।**

पर्व भी दो प्रकार के होते हैं — (१) शाश्वत् पर्व, (२) तात्कालिक पर्व।

शाश्वत् पर्व में दशलक्षण, अष्टाह्निका, रत्नत्रय, सोलहकारण इत्यादि पर्व आते हैं तो तात्कालिक पर्वों में तीर्थङ्करों के कल्याणक पर्व अथवा अन्य किसी घटना विशेष से सम्बन्धित पर्व होते हैं।

यहाँ वर्णित दशलक्षण पर्व, जिन्हें सामान्यतः दश धर्म भी कहा जाता है, आत्मा की उस वीतराग परिणति का नाम है, जो मिथ्यात्व, एवं क्रोधादि कषायों के अभावपूर्वक होती है। यद्यपि वीतराग परिणति का कोई प्रकार नहीं है परन्तु अनेक प्रकार के विकारों के अभाव में होने के कारण उस परिणति को अनेक नाम दिये जाते हैं। जैसे, क्रोध के अभाव से क्षमा और मान के अभाव से उसी परिणति को मार्दव आदि कहा जाता है।

दूसरी यह बात भी है कि उस वीतराग परिणति की परिपूर्णता के अभाव में साधक के जीवन में कुछ मन्दकषायरूप रागांश रह जाते हैं, जिनमें क्षमा, मार्दव इत्यादि सम्बन्धी मन्दराग प्रवर्तमान रहता है - इन का आरोप करके उस वीतराग परिणति को भी उक्त नामों से सम्बोधित किया जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक वीतराग परिणति के विविध अपेक्षाओं से दिये गये दश नाम ही दशलक्षण धर्म कहलाते हैं। इनमें वास्तव में धर्म दश नहीं, वरन धर्म का निरूपण दश प्रकार से है। वस्तुत: धर्म तो इनमें एक वीतराग सम्यक्चारित्रभावरूप ही है।

सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकता — यही कारण है कि प्रत्येक धर्म के पूर्व 'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता का सूचक है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेवाली वीतरागचारित्ररूप परिणति ही निश्चय धर्म है और उस भूमिका में प्रवर्तमान मन्दकषायरूप राग, व्यवहार से धर्म कहा जाता है। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि सम्यग्दर्शन के बिना वीतराग परिणति का जन्म नहीं होता और वीतराग परिणति के अभाव में मात्र मन्दराग को धर्मसंज्ञा व्यवहार से भी प्राप्त नहीं होती।

इन सभी तथ्यों का पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में विस्तृत स्पष्टीकरण किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के ये प्रवचन हिन्दी एवं गुजराती भाषा में कई बार प्रकाशित हुए हैं परन्तु वर्तमान में काफी समय से हिन्दी में इनकी अनुपलब्धता के कारण इन्हें सम्पादित कर प्रकाशित किया जा रहा है। इनके सम्पादन में जो-जो कार्य किया गया है, वह इस प्रकार है -

● सम्पूर्ण प्रवचनों को गुजराती के साथ अनुवाद की दृष्टि से मिलाकर, आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

● लम्बे-लम्बे गद्यांशों को छोटा किया गया है।

● भाषा को सरल-प्रवाहमयी बनाने का प्रयास किया गया है।

● प्रत्येक धर्म के प्रवचन से पूर्व, उस धर्म सम्बन्धी चित्र एवं उसका संक्षिप्त परिचय देनेवाला वाक्य दिया गया है, जो 'आराधना' पुस्तिका से लिया गया है।

● दश धर्मों का स्वरूप विविध ग्रन्थों के माध्यम से भी ज्ञात हो सके एवं स्वाध्यायी विद्वान, इन धर्मों पर स्वाध्याय कराते हुए उनका उद्धरण दे सकें — तदर्थ ग्रन्थ के अन्त में 'दश धर्म-कुछ प्रश्नोत्तर' दिये गये हैं। ज्ञात हो कि ये सभी प्रश्नोत्तर **मङ्गलायतन** मासिक पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं, इन्हें आवश्यक परिवर्द्धन के साथ यहाँ दिया गया है।

● पूर्व संस्करण का नाम 'दशलक्षण धर्म' था, जिसे बोलने की सुविधा के लिए 'दश धर्म प्रवचन' किया गया है।

इन सभी कार्यों के शक्तिप्रदाता परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ही हैं, उनका ही सबकुछ इस ग्रन्थ में है। साथ ही मुझे पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्तभूत मेरे विद्यागुरु एवं पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त पूज्य पण्डित श्री कैलाशचन्दजी, अलीगढ़ हैं, जिनके पावन चरणों में रहकर मुझे तत्त्वज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हुआ है। मेरे जीवन शिल्पी इन दोनों महापुरुषों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

इस सम्पादन कार्य को आद्योपान्त पढ़कर आवश्यक सुझाव प्रदान करने हेतु अग्रज श्री पवन जैन एवं समय-समय पर समुचित सुझावों के लिए पण्डित श्री राकेश जैन, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी आत्मार्थीजन गुरुदेवश्री की इस महा मङ्गलवाणी का अवगाहन करके अनन्त सुखी हों — इस पावन भावना के साथ।

— *देवेन्द्रकुमार जैन*

दिनाङ्क - ०१ फरवरी २०१०

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अलीगढ़ (उ०प्र०)

अनुक्रमणिका

शुद्ध ज्ञान चेतना परिणाम ही धर्म	१
उत्तम क्षमाधर्म	१२
उत्तम मार्दवधर्म	३०
उत्तम आर्जवधर्म	४२
उत्तम सत्यधर्म	५०
उत्तम शौचधर्म	५८
उत्तम संयमधर्म	६३
उत्तम तपधर्म	७२
उत्तम त्यागधर्म	७९
उत्तम आकिञ्चन्यधर्म	९०
उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म	९७
दश धर्म : कुछ प्रश्नोत्तर	११०

देहातीत होती है मुनिराज की दशा

जिन्हें अशरीरी ज्ञायक भगवान आत्मा की दृष्टि-ज्ञान और रमणता वर्त रही है - ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिराज को 'मात्र देह, वह संयम हेतु होय जब' अर्थात् संयम के निमित्तभूत शरीर है परन्तु शरीर की कुछ पड़ी नहीं है; देहातीत जैसी दशा हो गयी है - ऐसी साधनामग्नदशा की भावना सम्यग्दृष्टि को होती है। श्रावक भी संयम के मनोरथ का सेवन करता है।

अहा! मुनिराज को देह है परन्तु देह की कोई दरकार नहीं है। एक निजात्म-साधना के अतिरिक्त अन्य किसी की उन्हें कुछ पड़ी नहीं है। संघ, शिष्य अथवा संस्था की तो नहीं, परन्तु कदाचित् संयम के हेतुभूत ऐसे शरीर की भी कुछ नहीं पड़ी है। देह होने पर भी जिनकी दशा देहातीत वर्तती है - ऐसी सहजदशा हो जाती है। *(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/115)*

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

दश धर्म प्रवचन

शुद्ध ज्ञान चेतना परिणाम ही धर्म

'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन ही प्रथम धर्म है और आत्मा के ज्ञान-चारित्रादि समस्त धर्मों का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना भगवान ने धर्म नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन इस जगत में सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तु है। उसकी महिमा अपूर्व है।

हे भव्य! अनन्त काल में आत्मस्वरूप समझने का यह अवसर आया है। यदि सम्यग्दर्शन के द्वारा यथार्थ नहीं समझा तो कोई तुझे शरणभूत नहीं है। पुण्य-पाप रहित चैतन्यस्वभाव की प्रतीति के बिना तेरे त्यागादि सब व्यर्थ हैं, उनसे संसार के दु:खों का अन्त नहीं आयेगा।

आत्मस्वभाव की यथावत् प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है और वह सम्यग्दर्शन ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्मों का मूल है। वस्तुस्वभाव की प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीव के अहिंसा, सत्य इत्यादि धर्म कदापि नहीं हो सकते किन्तु अज्ञानता से मिथ्यात्वरूप महाहिंसा एवं असत्य का ही निरन्तर सेवन होता है। आत्मा को समझे बिना जो लौकिक सत्य है, वह भी परमार्थ से हिंसा ही है। मैं परजीवों का कुछ कर सकता हूँ — ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही सर्व पापों का मूल है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसके अन्य कोई भी धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञदेव द्वारा उपदेशित धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञदेव की परम्परा से जो जिनमत प्रवर्तमान है, उसमें धर्म के स्वरूप का यथार्थ निरूपण है तथा निश्चय और व्यवहार – ऐसे दो प्रकार से धर्म का कथन किया है। धर्म की प्ररूपणा चार प्रकार से है – (१) वस्तुस्वभावरूप धर्म, (२) उत्तमक्षमादिक दशलक्षण धर्म, (३) सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्म, और (४) जीवरक्षारूप धर्म।

यदि वहाँ निश्चय से विचार किया जाए तो इन चारों प्रकारों में **शुद्ध चेतनारूप धर्म** एक ही प्रकार का है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

(१) वस्तुस्वभावरूप धर्म — दर्शन–ज्ञान–परिणाममयी चेतना, जीववस्तु का परमार्थस्वभाव है। जब उस चेतना के परिणाम सर्व विकाररहित शुद्धचेतनारूप परिणमित हों, तब वह धर्म है। इस प्रकार 'वस्तु का स्वभाव धर्म' — ऐसा कहने से शुद्धचेतनारूप धर्म सिद्ध होता है।

यहाँ पर शुद्धचेतना परिणाम को ही धर्म कहा है। जितनी परजीव की दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति की शुभ अथवा हिंसादि की अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब निश्चय से अधर्मभाव हैं। देहादि की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता किन्तु शुभपरिणाम करे, उसमें भी धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्धचेतनामय है। जो पुण्य–पाप के भाव होते हैं, वह मेरा कर्तव्य नहीं है किन्तु उन विकारी भावों का भी मैं ज्ञाता ही हूँ। ज्ञाता–दृष्टापना ही मेरा स्वरूप है — ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञान–दर्शनमय चेतना की जो शुद्धपर्याय है, वही **धर्म** है। धर्म, द्रव्य अथवा गुण नहीं, किन्तु शुद्धपर्याय है।

धर्म के चार प्रकार के कथन में शुद्धपर्याय का वास्तव में एक ही प्रकार है। जितने अंश में चेतना निर्विकाररूप से परिणमित होती है, उतने अंश में धर्म है और जितने अंश में पुण्य–पाप के विकाररूप परिणमित होती है, उतना अधर्म है। शरीर की क्रिया में धर्म माननेवाला तो बिल्कुल बहिर्दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि है। यहाँ पर तो पुण्य में धर्म माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य और देह की क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है; ज्ञाता–दृष्टापना ही मेरा वास्तविक स्वरूप है – ऐसा जाननेवाले ज्ञानी के भी निचली दशा में पुण्य –पाप के परिणाम होते अवश्य हैं किन्तु वे ऐसा जानते हैं कि पुण्य–पाप के विकार से रहित शुद्धचेतना परिणति में जितनी स्थिरता करूँ, उतना ही धर्म है और चेतना परिणति जितनी बहिर्मुख हो, वह सब अधर्मभाव है। जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वही धर्म है।

वास्तव में तो धर्म, पर्याय है किन्तु शुद्धपर्याय का द्रव्य के साथ अभेदत्व होने से, अभेदरूप से वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा है।

प्रथम पुण्य–पाप रहित स्वभाव की प्रतीति होने पर जब सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट होता है, तब चेतना के परिणाम अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध होते हैं। ज्ञानी, शुद्धपरिणाम में ही धर्म समझते हैं, इसलिए वे अशुद्धपरिणाम का स्वभाव में स्वीकार नहीं करते; इसी कारण पुण्य–पाप रहित स्वभाव की स्थिरता द्वारा क्रमशः चारित्र की पूर्णता करते हैं। जब पूर्ण शुद्धचेतना परिणाम प्रगट होते हैं, उस समय केवलज्ञान प्रगट होता है और पुण्य–पाप का अभाव होता है।

'शुद्धचेतनारूप धर्म' कहने से ही यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान – दर्शन के अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ नहीं कर सकता। ज्ञान – दर्शन के अतिरिक्त आत्मा का अन्य कुछ भी कर्तव्य मानना अधर्मभाव है। मात्र ज्ञान–दर्शनमय स्वभाव को मानने पर उसमें पर का करने की बात ही कहाँ आयी? अरे, ज्ञान में शुभविकल्प भी कहाँ आया? चेतना का स्वभाव ही विकल्परहित ज्ञाता–दृष्टा है और वह विकाररहित चेतना ही धर्म है।

(२) उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म — आत्मा क्रोधादि कषायरूप परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहे, यही उत्तम क्षमादिरूप धर्म है; इस प्रकार उत्तम क्षमादिरूप धर्म कहने से भी शुद्धचेतना के परिणामरूप धर्म ही सिद्ध होता है क्योंकि उसमें चेतना के परिणामों को पुण्य–पाप से छुड़ाकर ज्ञानस्वभाव में ही स्थिर करना कहा है। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ; मेरे ज्ञान में कोई परद्रव्य इष्ट–अनिष्ट नहीं है, मेरे ज्ञान के लिए कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है, दुर्जन या सज्जन नहीं है — ऐसे भानपूर्वक स्वरूप की स्थिरता हो, वहीं उत्तम क्षमा हो सकती है।

'अपने को सहन करना सीखना चाहिए' इस प्रकार परद्रव्यों को सहन करना मानना और स्वभाव के भान बिना क्षमा रखना, उत्तम क्षमा नहीं है। मेरा स्वभाव जानने का है, मेरा ज्ञान सर्व पदार्थों को समरूप से जाननेवाला है, जानने में ऐसी वृत्ति करना कि 'यह अच्छा है और यह बुरा है' — वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ऐसे भानपूर्वक मान–अपमान की वृत्ति को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना ही शुद्धचेतनारूप धर्म है।

यहाँ पर मुख्यतः मुनि के लक्ष्य से बात की है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी अंशतः शुद्धचेतना होती है, प्रतीतिरूप से उनके समस्त द्रव्यों के प्रति क्षमा प्रवर्तमान है। परलक्ष्य से क्रोध या क्षमा की अल्पवृत्ति हो जाए, उसे ज्ञानी अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते; इस कारण उनके निरन्तर अंशतः उत्तम क्षमारूप धर्म प्रवर्तमान रहता है।

आत्मस्वभाव के भान बिना द्रव्यलिङ्गी जैन निर्ग्रन्थ मुनि हो और कोई उसके शरीर को जीवित जला डालें, तब भी क्रोध की वृत्ति न करे; तथापि उसके उत्तम क्षमा नहीं है क्योंकि क्षमा की शुभवृत्ति को वह अपना स्वरूप मानता है, उसे शुद्धचेतना परिणामों का पता नहीं है। शुभपरिणामों से भी शुद्धचेतना भिन्न है — ऐसे भान बिना धर्म नहीं हो सकता। ज्ञानस्वरूप में किसी भी राग का अंश नहीं है; अशुभ या शुभ दोनों प्रकार के रागरहित शुद्धचेतना ही धर्म है।

शुभभाव विकार है, उसे धर्म में सहायक माननेवाले को मिथ्यात्व का महापाप है, पुण्यभाव में भी लोभकषाय की मुख्यता है, वह पुण्यभाव अशुद्धचेतना है; शुद्धचेतनारूप धर्म तो एक ही प्रकार का है, उसमें शुभाशुभविकल्पों को भी अवकाश नहीं है।

इस प्रकार वस्तुस्वरूप धर्म और उत्तमक्षमादिरूप धर्म में शुद्धचेतना के परिणामरूप धर्म एक ही प्रकार सिद्ध हुआ।

(३) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में मात्र शुद्ध चेतना के ही परिणाम हैं। इसमें, दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी शुद्ध चेतनारूप धर्म ही सिद्ध होता है। शुद्ध ज्ञानचेतना में पुण्य-पाप नहीं हैं, शरीरादि की क्रिया नहीं है; मात्र शुद्धस्वभाव है, वही धर्म है। इस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहने से भी शुद्ध चैतन्यत्व सिद्ध हुआ।

(४) जीवदयारूप धर्म — 'जीवदया' के नाम से लोग शुभराग में धर्म मान रहे हैं किन्तु जीवदया के यथार्थस्वरूप को नहीं समझते। क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी अथवा परजीव की हिंसा का भाव न करना, जीवदया है। सबसे महान क्रोध मिथ्यात्व है और वही वास्तविक जीवहिंसा है। मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कभी भी जीवहिंसा नहीं रुक सकती।

स्व-जीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है और जब स्वतः क्रोधादि द्वारा स्व-जीव की हिंसा नहीं की, तब क्रोध का अभाव होने के कारण परजीव को मारने का भाव भी नहीं आया, इसमें परजीव की दया भी आ गयी किन्तु स्वजीव की दया कब हो सकती है ? जो जीव पुण्य से धर्म मानता है, वह विकारभाव के द्वारा स्वभाव की हिंसा करता है। मेरा शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप रहित है - ऐसी पहिचान करने के पश्चात् दया की शुभवृत्ति को भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गया और शुद्ध ज्ञान-चेतना के अनुभव में लीन हुआ, वही जीवदया धर्म है। इसलिए इसमें भी जो चेतना के शुद्धपरिणाम हैं, वही धर्म है — ऐसा आया है।

कोई जीव परजीव को वास्तव में न तो मार सकता है, न जीवित कर सकता है; मात्र भाव करता है। किसी जीव को दुःख न देना, उसमें स्वयं भी सम्मिलित है। अब स्वयं को भी दुःखी नहीं करना, यथार्थ दया है। अशुभपरिणामों के समय जीव स्वयं तीव्र दुःखी होता है और दयादि के शुभपरिणामों के समय भी जीव को आकुलता का ही वेदन होने से वह दुःखी है; इसलिए अशुभ और शुभ दोनों भावों से जीव को बचाना अर्थात् मात्र शुभाशुभरहित ज्ञानस्वभावरूप दशा करना ही जीवदया है।

जो जीव शुद्ध ज्ञानचेतना द्वारा स्वरूप में एकाग्र हुआ, उस जीव के अशुभभाव होते ही नहीं; इसलिए वहाँ स्वयं ही परजीव की दया का पालन होता है। यदि परजीव की दया पालन करने के शुभराग में धर्म हो तो सिद्धदशा में भी परजीव की दया का राग होना चाहिए ? किन्तु वहाँ ऐसा राग नहीं है; इससे सिद्ध होता है कि शुभराग धर्म नहीं है; निश्चय से अधर्म है, हिंसा है।

प्रथम, सम्यग्दर्शन द्वारा स्वभाव को पहिचानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसकपना प्रगट होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य-पाप के भावों को अपने स्वभाव का नहीं मानते; इस प्रकार मान्यता में अपने स्वभाव को पुण्य-पाप से बचाकर रखते हैं, इससे उनके सच्ची जीवदया है। अज्ञानी जीव अपने को क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकाररहित स्वभाव का नाश करता है, वही हिंसा है।

पुनश्च, 'जीवदया' — ऐसा कहा जाता है। कहीं भी

'शरीरदया' नहीं कहा जाता क्योंकि शरीर, जीव नहीं है। लोग शरीर की क्रिया से माप करते हैं, वह ठीक नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न निरन्तर चैतन्यस्वरूप है, उसे श्रद्धा-ज्ञान - स्थिरता में ही स्थिर रखना और विकार में न जाने देना, जीवरक्षा है।

'परजीव की रक्षा करूँ' — ऐसी दया की वृत्ति भी परमार्थ से जीवहिंसा ही है, इस प्रकार प्रथम श्रद्धा में स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि ऐसी मान्यता होने के पश्चात् भी अस्थिरता के कारण शुभविकल्प आते हैं किन्तु वे धर्म नहीं हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव, जीवरक्षा के शुभभाव के समय ऐसा मानता है कि मैं परजीव को बचा सकता हूँ तथा इस शुभभाव से मुझे धर्म होगा। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव यदि युद्धादि कर रहा हो और उसके अशुभपरिणाम हों तो भी उसे अन्तरङ्ग में भान होता है कि यह युद्ध की या देह की क्रिया मेरी नहीं है; अशुभभाव मेरे पुरुषार्थ के दोष से होते हैं, उतनी हिंसा है किन्तु वास्तव में वह मेरा यथार्थस्वरूप नहीं है। उस समय इन दोनों जीवों में से मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्त हिंसा प्रवर्तमान है और सम्यग्दृष्टि जीव के अल्प हिंसा है। अरे! श्रद्धा की अपेक्षा से तो युद्ध के समय भी वह अहिंसक है क्योंकि उसके अंशत: शुद्धचेतना परिणाम प्रवर्तमान हैं।

जितने अंश में शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान हों, उतने अंश में युद्ध के समय भी जीवदया वर्त रही है और मिथ्यादृष्टि जीव के किञ्चित् भी शुद्धचेतना परिणाम नहीं होने से उसे जीवरक्षा के भाव के समय भी जीवहिंसा ही है। यह माप तो अन्तरङ्ग शुद्धचेतना परिणामों से है। शरीर की क्रिया तो दूर रही किन्तु पुण्य-पाप के भावों पर से भी जीवदयारूपी धर्म का यथार्थ माप नहीं होता।

इस प्रकार धर्म के चारों लक्षणों में अभेदरूप से शुद्धचेतना परिणाम ही धर्म है।

परमार्थ धर्म अर्थात् निश्चय धर्म या सच्चा धर्म तो एक ही प्रकार का है, फिर उसे जीवदया कहो अथवा वस्तुस्वभाव कहो; उसमें मात्र शुद्ध चेतना परिणाम ही धर्म है। 'शुद्ध चेतना को धर्म कहते हैं और कभी-कभी शुभभाव को भी धर्म कहते हैं' - ऐसा स्वरूप निश्चय धर्म का नहीं है। निश्चय धर्म तो एक ही प्रकार का है।

'मैं आत्मा कौन हूँ' — इस भान के बिना शुद्ध चेतना कहाँ से लायेगा? बाह्य में जीव मरें या जिएँ, उनकी संख्या से हिंसा अथवा दया का वास्तविक माप नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने पर अहिंसा का प्रारम्भ होता है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी अस्थिरता के कारण जितनी रागादिक वृत्ति उत्पन्न होती है, उतनी चारित्र अपेक्षा से हिंसा है किन्तु जो आत्मभान प्रवर्तमान है, उतनी जीवदया है। इस प्रकार साधक के आंशिक अहिंसा और आंशिक हिंसा — दोनों साथ में ही होती हैं। अज्ञानियों के एकान्त जीवहिंसा ही है; पूर्ण वीतरागी ज्ञानी के सम्पूर्ण अहिंसा है। वस्तुस्वभावरूप जैनशासन में त्रिकाल धर्म का ऐसा ही स्वरूप है।

अपने भावों में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व या अभिमान न होने देना और अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को पुण्य-पाप से भिन्नरूप

श्रद्धा में स्थिर रखना — ऐसी यथार्थ जीवदया है, उसका जगत् को माहात्म्य नहीं है और शुभराग का माहात्म्य है। जिसने पुण्य के विकल्प से अपना लाभ माना है, उसने पुण्य को अपना स्वरूप ही माना है क्योंकि जिसे अपना स्वरूप मानता है, उसी से अपने को लाभ मानता है।

जिस जीव ने पुण्य को अपना स्वरूप माना, उसने जगत् के समस्त आत्माओं के स्वभाव को भी पुण्यरूप माना। इस प्रकार जगत् के समस्त आत्माओं को विकारी माना है। उसने अपनी मान्यता में विश्व के सर्व जीवों की हिंसा की है। जीवहिंसा के इस पाप का जगत् को ज्ञान नहीं है।

महान हिंसादि के अशुभभाव करने की तो बात ही नहीं है क्योंकि अशुभभावों में तो तीव्र आकुलता है किन्तु जो शुभभाव होते हैं, उनमें भी आकुलता ही है। इन दोनों आकुलताओं में हिंसा है; उससे रहित निराकुलता और ज्ञान-चेतना का जितना अनुभव है, उतनी ही जीवरक्षा है। अपने शुद्ध जीवपरिणाम की रक्षा करना, उसका हनन न होने देना ही शुद्ध चेतना परिणामरूप धर्म है। शुद्ध चेतना परिणाम के बिना दया अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं क्षमा इत्यादि कोई धर्म सच्चा होता ही नहीं।

'परजीव को बचाने का भाव करना, अपना कर्तव्य है' — यह मान्यता मिथ्या है। परजीव के बचाने का भाव तो विकार है, तो क्या विकार करना आत्मा का कर्तव्य है? ज्ञानी तो जानते हैं कि मात्र ज्ञातारूप से स्वभाव में स्थिर रहना हमारा कर्तव्य है। जितना मैं अपने ज्ञातास्वभावरूप से स्थिर रहूँ, उतना धर्म है और ज्ञातापने के अतिरिक्त

अन्य किसी वृत्ति की उत्पत्ति होना मेरा कर्तव्य नहीं है; इस प्रकार ज्ञानी जीव ज्ञाता-दृष्टारूप से अपने चैतन्यपरिणाम को स्थिर रखता है, वही धर्म है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि वस्तुस्वभावरूप धर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म और जीवरक्षारूप धर्म — इन चार प्रकारों की प्ररूपणा में शुद्ध चेतना परिणाममय एक ही प्रकार का धर्म है — ऐसा बताया है। तात्पर्य यह है कि निश्चय धर्म एक ही प्रकार का है। ●

सम्पत्ति विपत्ति में समभाव

जिस प्रकार चन्द्रमा आकाश में निरन्तर चक्कर लगाता रहता है उसी प्रकार यह प्राणी संसार में सदा परिभ्रमण करता रहता है। जैसे चन्द्रमा उदय-अस्त एवं कलाओं की हानि-वृद्धि को प्राप्त होता रहता है उसी प्रकार संसारी प्राणी भी जन्म-मरण तथा सम्पत्ति की हानि-वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, जैसे चन्द्रमा मध्य में कलुषित (काला) रहता है उसी प्रकार संसारी प्राणी का हृदय भी पाप से कलुषित रहता है तथा जिस प्रकार चन्द्र एक राशि (मीन-मेष आदि) से दूसरी राशि को प्राप्त कर लेता है, तदनुसार संसारी प्राणी भी एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर का ग्रहण करता रहता है — ऐसी स्थिति होने पर भी सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति में जीव को हर्ष और विषाद किसलिए करना चाहिए? अर्थात् नहीं करना चाहिए।

- पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका

उत्तम क्षमाधर्म

राजा श्रेणिक द्वारा महा उपसर्ग किए जाने पर भी मुनिराज यशोधर, स्वरूप-आराधना से विचलित नहीं हुए; उन्होंने क्षमाभाव धारण करके राजा श्रेणिक को भी सत्धर्म प्राप्ति का आशीर्वाद प्रदान किया।

इधर राजा श्रेणिक ने भी धर्म की विराधनारूप अनन्त क्रोधपरिणामों का परित्याग करके, सम्यग्दर्शनपूर्वक धर्म की आराधना प्रगट की। वस्तुतः यह भी उत्तम क्षमा की आराधना का एक प्रकार है।

क्रोध के बाह्य प्रसङ्ग उपस्थित होने पर भी, रत्नत्रय की दृढ़ आराधना के बल से क्रोध की उत्पत्ति न होने देना और वीतरागभावरूप रहना; असह्य प्रतिकूलता में भी क्रोधित होकर आराधना में भङ्ग नहीं पड़ने देना, उत्तम क्षमाधर्म की आराधना है। ऐसी क्षमा के आराधक सन्तों को हमारा नमस्कार हो।

हे सन्तों! हमें भी ***उत्तम क्षमाधर्म*** *की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम क्षमाधर्म

आज से दशलक्षणपर्व प्रारम्भ होता है। सबसे पहला दिन उत्तम क्षमा का है। चारित्रदशा में प्रवर्तमान मुनियों के उत्तम क्षमादि दश प्रकार के धर्म होते हैं। इन उत्तम क्षमादि धर्मों से ही चारित्रदशा होती है, वह चारित्र मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, चारित्र के कारण हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को मोक्षमार्ग कहना उपचार है क्योंकि जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ हो, उसे अवश्य ही अल्पकाल में सम्यक्चारित्र प्रगट होता है; इसलिए सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षमार्ग कह दिया है किन्तु मोक्ष का साक्षात् कारण तो वीतरागी चारित्रदशा है। उस चारित्रदशा के उत्तम क्षमादि दश प्रकार हैं। इन उत्तम क्षमादि दश धर्मों की आराधना का पर्व आज से प्रारम्भ हो रहा है। 'दशलक्षणपर्व' का अर्थ है 'मोक्ष की आराधना का महोत्सव।'

आज का दिन 'उत्तम क्षमा' का माना जाता है। वस्तुत: सम्यग्दर्शन के बिना उत्तम क्षमा होती ही नहीं। लोकरीति में शुभभाव को क्षमा कहते हैं, उसका निषेध करने के लिए यहाँ 'उत्तम क्षमा' कहा गया है। उत्तम क्षमा का अर्थ है, सम्यग्दर्शनसहित वीतरागभावरूप क्षमा।

निश्चय से अपना आत्मस्वभाव त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उसकी प्रतीति एवं बहुमान करना तथा राग-द्वेष क्रोधादि की रुचि को छोड़ना ही उत्तम क्षमाधर्म की यथार्थ आराधना है। आत्मस्वभाव का

अनादर करके, पुण्य-पाप की रुचि करना, क्रोध है और आत्मस्वभाव के आदर द्वारा पुण्य-पाप की रुचि को छोड़ देना ही उत्तम क्षमाधर्म है।

वस्तुतः दश दिनों को पर्व कहना तो उपचार है; आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक चारित्रधर्म की दश प्रकार से आराधना करना ही साधकजीव का सच्चा पर्व है। पर्व अर्थात आराधना। उस आराधना का आरोप करके अमुक दिन को 'पर्व' कहना व्यवहार है किन्तु जो आत्मा अपने में आराधकभाव प्रगट करता है, उसके लिए व्यवहार से दिन को पर्व कहा जाता है। जिसे आत्मा का भान नहीं है, उसके अपने में ही पर्व नहीं है, तब फिर दिन में भी किसका उपचार किया जायेगा?

आत्मा की पर्याय में होनेवाले पुण्य-पाप की रुचि ही अनन्त क्रोध है। ज्ञायक स्वभाव की रुचि के द्वारा उस क्रोध का नाश करना ही उत्तम क्षमारूप चारित्रदशा प्रगट होने का बीज है और स्वभाव की रुचि के पश्चात् विशेष स्थिरता द्वारा वीतरागभाव प्रगट करके, पुण्य-पाप का नाश करना, उत्तम क्षमा है। ऐसी उत्तम क्षमा मुनिदशा में होती है। आज उस उत्तम क्षमा की आराधना का दिन है।

मुनियों के तो उत्तम क्षमा की आराधना सदैव होती है। वह आराधना तो जीव जब चाहे उसी समय कर सकता है किन्तु आज विशेषरूप से उसका स्मरण करके साधक जीव उसकी भावना करते हैं।

आज माङ्गलिक रूप से आचार्य पद्मनन्दिकृत 'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका' में से उत्तम क्षमाधर्म के स्वरूप का प्रवचन होता है :—

(मालिनी)

जड़जनकृतबाधा क्रोशहासा प्रियादावपि
सति न विकार यन्मनो याति साधोः।
अमल विपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ
शिवपथपथिकानां सत्सहायत्वमेति॥ ८२॥

मूर्ख-अज्ञानीजनों के द्वारा वध, बन्धन, क्रोध, हास्य आदि किये जाएँ, तथापि साधु अपने निर्मल और गम्भीर चित्त से विकृत नहीं होते, वही उत्तम क्षमा है। ऐसी उत्तम क्षमा मोक्षमार्ग के पथिक सन्तों को यथार्थतया सहायता करनेवाली है।

उत्तम क्षमादि दश धर्मों में मुख्यतया तो चारित्र की ही आराधना है, अर्थात् इन दश धर्मों का पालन मुख्यतः मुनिदशा में ही होता है और श्रावक के गौणरूप से अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अंशतः होता है। मोक्षमार्ग तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है, वह चारित्रदशा में ही होता है। सम्यग्दृष्टि जीवों के नियम से चारित्र प्रगट होता ही है, इसलिए चौथे-पाँचवे गुणस्थान में भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। उत्तम क्षमा अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित क्षमा। उत्तम क्षमा, मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

क्षमा के पाँच प्रकार हैं। उनमें से चार तो पुण्यबन्ध के कारणरूप हैं और पाँचवें को 'उत्तम क्षमा' कहा जाता है, वह धर्म है।

(१) 'यदि मैं क्रोध करूँगा तो मुझे हानि होगी; यदि मैं इस समय सहन नहीं करूँगा तो भविष्य में मुझे अधिक हानि होगी' — ऐसे भाव से क्षमा करना, रागरूप क्षमा है। जिस प्रकार निर्बल मनुष्य, बलवान का विरोध नहीं करता, वैसे 'यदि मैं क्षमा करूँ तो

मुझे कोई हैरान नहीं करेगा' — ऐसे भाव से क्षमा रखना, बन्ध का ही कारण है क्योंकि इसमें क्रोधादि करने की भावना दूर नहीं हुई। मेरा स्वरूप ही किसी प्रसङ्ग पर क्रोध करने का नहीं है, मैं तो ज्ञान करनेवाला ही हूँ — ऐसी प्रतीति के बिना कभी भी उत्तम क्षमाधर्म नहीं होता किन्तु शुभरागरूप क्षमा होती है; वह बन्ध का कारण है, धर्म नहीं है।

(२) यदि मैं क्षमा करूँ तो दुसरे की ओर से मुझे लाभ होगा — ऐसे भाव से मालिक आदि की बातें (फटकार) सहन करे और क्रोध न करे तो वह भी वास्तविक क्षमा नहीं है।

(३) यदि मैं क्षमा नहीं करूँगा तो कर्मबन्ध होगा और नरकादि दुर्गति में जाना पड़ेगा, इसलिए मैं क्षमा कर दूँ तो कर्मबन्ध रुक जाए — ऐसे भाव से क्षमा करना भी सच्ची क्षमा नहीं है; वह क्षमा, बन्ध का कारण है।

(४) क्रोधादि न करने की वीतराग की आज्ञा है और शास्त्रों में भी वैसा कहा है; इसलिए मुझे क्षमा करना चाहिए, जिससे मुझे पापबन्ध न हो — ऐसे भावों से क्षमा धारण करना भी पराधीन क्षमा है, राग है; उससे धर्म नहीं होता।

उपरोक्त चारों प्रकार की क्षमा, बन्ध का कारण है क्योंकि क्षमा के उन चारों प्रकारों में कहीं भी स्व-आत्मा का लक्ष्य नहीं आया किन्तु परलक्ष्य से ही राग को अल्प करके क्षमा धारण की है, वह सहज क्षमा नहीं है।

(५) उत्तम क्षमा तो सहज वीतरागतारूप है। आत्मस्वरूप को भूलकर, पुण्य-पाप की रुचि करना ही महान क्रोध है और आत्मा

के त्रैकालिक स्वरूप की रुचि के द्वारा शुभाशुभराग की रुचि को छोड़ देने से वीतरागी क्षमाभाव प्रगट होता है।

मुनिदशा में शरीर को सिंह-बाघ खाये जा रहा हो, फिर भी उस ओर की कोई वृत्ति ही उत्पन्न नहीं हो। अशुभवृत्ति तो नहीं किन्तु शुभवृत्ति भी उत्पन्न न हो — ऐसी आत्मा की उत्कृष्ट आनन्दमय वीतरागीदशा ही उत्तम क्षमा है और वही धर्म है। उसमें दुःख नहीं, किन्तु आनन्द है।

इस गाथा में अज्ञानी जीवों को 'जड़जन' कहा है। जिन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान नहीं है और रागादि को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें परमार्थ से 'जड़' कहते हैं। उन अज्ञानियों के द्वारा कहे गये कठोर वचन, ज्ञानीजन स्वभावाश्रित रहकर सहन करते हैं — यह उत्तम क्षमा है। साधुजन, चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसङ्गों पर भी अपने धीर-वीर स्वभाव से च्युत नहीं होते। आत्मस्वभाव की अरुचि जिसका लक्षण है — ऐसे क्रोध का त्याग करके जिन्होंने साधकदशा प्रगट की है और तत्पश्चात् स्वरूप-स्थिरता के विशेष पुरूषार्थ द्वारा धीर होकर ज्ञानस्वरूप में लीन हो गये हैं, उन सन्तों को बाह्य में कौन प्रतिकूल अथवा अनुकूल है, उससे प्रयोजन नहीं होता। जो अपने पुरुषार्थ को स्वभाव में संयोजित करके समभावरूप परिणमन करते हैं, उनके उत्तम क्षमा होती है। मोक्षमार्ग में विचरनेवाले साधुओं को यह उत्तम क्षमा सर्वप्रथम सहायक है।

आत्मा को मोक्षमार्ग में जाने के लिए कोई परपदार्थ सहायक नहीं हैं किन्तु उत्तम क्षमारूप अपनी निर्मल पर्याय ही अपने को सहायक है — ऐसा कहकर आचार्यदेव ने मङ्गलाचरण किया है।

जिन्होंने अपने चैतन्यस्वरूप के भान द्वारा पुण्य-पाप दोनों को समान माना है और जिनके ज्ञायकदशा प्रकट हुई है, ऐसे मुनियों का चित्त धीर-वीर होता है। उनकी परिणति में अनन्त धैर्य प्रगट हुआ है, इस कारण मन में क्षोभ नहीं होता और पुरुषार्थ में वीरता है, इसलिए वह स्वभाव में स्थिर रहने का कार्य करती है। बाह्य में यदि कोई निन्दा करता है तो किसकी ? और स्तुति करता है तो किसकी ? बन्धन करता है तो किसे ? और यदि सेवा करता है तो किसकी ? यह शरीर तो मैं नहीं हूँ और मेरे आत्मा को कोई बंधनादि के द्वारा हानि नहीं पहुँचा सकता, ऐसा भान तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है परन्तु उसके पश्चात् विशेष पुरुषार्थ के द्वारा चारित्रदशा प्रगट होने पर विकल्प भी उत्पन्न न हो और सहजक्षमा प्रगट हो, वह उत्तम क्षमाधर्म है।

कोई जीव मुझे लकड़ी मारे और मैं सहन करूँ — ऐसा मानकर क्षमा रखना, धर्म नहीं है। इसका कारण यह है कि लकड़ी शरीर को लगती है, तथापि 'मुझे लकड़ी लगी' — ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। कोई कठिन से कठिन लकड़ी की मार सहन करता है अथवा बन्दूक की गोलियाँ नग्न शरीर पर बरसें, उन्हें भी सहन करता है, तथापि ऐसा मानता है कि 'मैंने बहुत सहन किया है, इससे दूसरों का हित होगा, दूसरों के हित के लिए ही मैं क्षमा करता हूँ' — तो ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है; उसके किञ्चित् भी धर्म नहीं है। परमार्थतः तो उसके स्वरूप को अरुचिरूप महा क्रोध विद्यमान है। ऐसे जीवों की रागरूप क्षमा कभी भी मोक्ष की सहायक नहीं हैं किन्तु वह तो संसार का ही कारण है।

वीतरागी उत्तम क्षमा ही मोक्ष की सहायक है, उस उत्तम क्षमारूप

चारित्र के द्वारा मुनिजन सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जिनके सम्यग्दर्शन होता है, उन्हें चारित्रदशा प्रगट करने के लिए अनन्त पुरुषार्थ करना शेष है। चारित्र, धर्म है। वह धर्म, वीतरागतारूप है। सम्यक् आत्मभानपूर्वक स्वभाव के सेवन द्वारा वीतरागता प्रगट करना, आराधना है और वह मोक्षमार्ग है।

यह उत्तम क्षमा धर्म प्रगट करने के लिए प्रथम तो उपयोगस्वरूप आत्मा को क्रोधादि से भिन्न जानना चाहिए। इस पहिचान के पश्चात् ही उत्तम क्षमादि यथार्थ भावनाएँ हो सकती हैं।

शुभाशुभरागादिक में कर्तापने की रुचि ही अपने त्रैकालिक ज्ञाता स्वभाव की अरुचिरूप अनन्तानुबन्धी क्रोध है, आस्रव है। चैतन्यस्वरूप आत्मा की रुचि प्रगट करके शुभाशुभभावों की रुचि छोड़ देने से, स्वसन्मुखतानुसार वीतरागीभाव प्रगट होता है, वह उत्तम क्षमा है। यह उत्तम क्षमा साधक जीवों को मोक्षमार्ग में सहचरी है — यह बात प्रथम श्लोक में बतलायी है।

अब, उत्तम क्षमा धर्म से विरुद्ध क्रोधभाव, मुनीश्वरों को दूर से ही त्याग देना चाहिए, ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं —

(बसन्ततिलका)

श्रामण्यपुण्यतरुरूच्चगुणौघशाखा-
पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा।
याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप-
दावानलात् त्यजत तं यतयोऽतिदूरम्॥ ८३॥

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि गुणों से युक्त मुनिवर पवित्र वृक्ष के समान हैं और उत्तम क्षमादि गुण उसकी

शाखाएँ, पत्र और फूलों के समान हैं। अल्पकाल में ही इस वृक्ष पर मोक्षरूपी फल आनेवाले हैं किन्तु यदि क्रोधरूपी दावानल उसमें प्रवेश कर जाए तो वह मुनिदशारूपी वृक्ष, कुछ भी फल दिये बिना बात की बात में नष्ट हो जाता है; इसलिए हे मुनिवरों! क्रोधादि को दूर से ही त्याग दो।

यहाँ कहते हैं कि मुनिराज वृक्ष समान हैं और सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र उसकी शाखाएँ तथा मोक्षदशा उसका फल है। उत्तम क्षमादि दश धर्म सम्यक्चारित्र के ही भेद हैं। सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष के बिना मोक्षरूपी फल नहीं आता। यदि उस यतिरूपी वृक्ष में क्रोधरूपी अग्नि लग जाए तो वह वृक्ष नष्ट हो जाता है और मोक्षफल नहीं आता। मुनिदशा मोक्ष की निकटतम साधक है। मुनि तो मोक्षफल आने की तैयारीवाला फूला हुआ वृक्ष है। मुनिवर, उत्तम क्षमा द्वारा अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि वे आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान सहित क्षमा से च्युत होकर क्रोध करें तो उस क्रोधरूपी अग्नि के द्वारा यतिरूपी वृक्ष जल जाता है; इसलिए क्रोध दूर से ही त्याग कर देने योग्य है अर्थात् क्रोध होने ही नहीं देना चाहिए।

यहाँ पर मुख्यत: मुनियों के लक्ष्य से कथन किया गया है, श्रावक-गृहस्थ गौणरूप हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के भी अंशत: उत्तम क्षमाधर्म होता है। विकार होते हुए भी, मेरा स्वरूप उससे रहित है — ऐसी प्रतीतिपूर्वक स्वभाव का आदर है और विकार का आदर नहीं है, इस कारण उनके उत्तम क्षमा है। **स्वभाव को विकारयुक्त मानकर, विकार का आदर करना और विकाररहित ज्ञानस्वभाव का अनादर करना ही क्रोध है।**

जो सम्यग्दर्शनपूर्वक विशेष स्वरूपस्थिरता करके मुनि हुए हैं, उन्हें अपने चारित्रस्वभाव में क्रोध को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। मुनिराज ने अनन्तानुबन्धी इत्यादि तीन प्रकार के कषायों को तो नष्ट कर ही दिया है और उतनी उत्तम क्षमा भी प्रगट हो ही गयी है किन्तु अभी संज्वलन कषाय है, उससे आत्मा के गुण की पर्याय जलती है। जो तीन कषाय दूर कर दिये हैं, उन्हें तो आने ही नहीं देना चाहिए और जो अत्यन्त मन्दकषाय रह गयी है, उसे भी नष्ट करके सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करना चाहिए।

यहाँ पर किसी अन्य से क्षमा नहीं माँगना है। 'भाई! आप मुझे क्षमा करना' — ऐसा शुभपरिणाम, उत्तम क्षमा नहीं है। दूसरे से क्षमा माँगे किन्तु दूसरा क्षमा न दे तो क्या यह जीव स्वयं क्षमाभाव धारण नहीं कर सकता? जीव, वास्तविक क्षमा तो स्वयं अपने आत्मा को देता है। पहले आत्मा को रागयुक्त-विकारयुक्त मानकर, आत्मास्वभाव पर क्रोध किया था, उस दोष की आत्मा इस प्रकार क्षमा माँगता है कि हे आत्मा! तुझे क्षमा हो। अब मैं तुझे क्षमा देता हूँ। तेरे अखण्ड ज्ञानस्वभाव में एक विकल्प भी नहीं होने दूँगा। हे आत्मा! क्षमा हो तेरे परमात्मस्वभाव को। अब मैं तेरे आदर को छोड़कर, एक विकल्पमात्र का भी आदर नहीं करूँगा।

इस प्रकार ज्ञानी, स्वयं अपने स्वरूप को जानकर अखण्डानन्दस्वरूप में स्थिर होने की भावना करते हैं। उसमें जितना राग दूर होकर वीतरागभाव प्रगट हुआ, उतनी ही उत्तम क्षमा है, वह धर्म है और उसका फल मोक्ष है।

उत्तम क्षमा का पालन करने में श्री अरिहन्त शूरवीर हैं। उन्होंने

साधकदशा में ऐसी उत्तम क्षमा ग्रहण की कि विकल्प को भी छोड़कर, वीतरागभाव धारण करके केवलज्ञान प्रगट कर लिया। श्री पार्श्वनाथ भगवान मुनिदशा में थे और वे आत्मध्यान में मग्न थे, उस समय कमठ ने आकर घोर उपसर्ग किया परन्तु उन्होंने तो आत्मस्वरूप की एकाग्रतारूप उत्तम क्षमा धारण करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट कर लिया। उन्हें उपसर्ग करनेवाले कमठ के प्रति द्वेष का विकल्प भी उत्पन्न नहीं हुआ और न सेवा करनेवाले इन्द्र के प्रति राग का विकल्प ही हुआ। एकरूप स्वभाव में लीनता होने पर, सम्पूर्ण वीतरागभाव प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। ऐसा वीतरागभाव ही उत्तम क्षमा है।

आत्मस्वरूप को समझकर, उसका बहुमान करना ही उत्तम क्षमा की आराधना का यथार्थ पर्व है। मेरा ज्ञानस्वभाव अन्तरङ्ग में सहज क्षमास्वरूप है; क्रोध की वृत्ति मुझमें है ही नहीं — इस प्रकार अपने स्वभाव और क्रोध के भेदज्ञानपूर्वक स्वभाव की एकाग्रता, सहज क्षमा है और वही धर्म है। जो आत्मा अपने में ऐसा क्षमाभाव प्रगट करता है, वही इस पर्व की यथार्थ आराधना करनेवाला है।

अब, यह बतलाते है कि उत्तम क्षमा को धारण करनेवाले धर्मात्मा कैसी भावना करते हैं ? —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा रागादिदोषोज्झिताः
लोकः किंश्चदपि स्वकीयहृदये स्वेच्छाचरो मन्यताम्।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा
मित्रैणपि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते॥ ८४॥

धर्मात्मा जीव, उत्तम क्षमाधर्म का चिन्तवन करते हुए ऐसी भावना करते हैं — यह स्वेच्छाचारी लोक अपने हृदय में मुझे भला अथवा बुरा, जो चाहे माने किन्तु मैं तो राग-द्वेष रहित होकर अपने उज्ज्वल ज्ञान में ही स्थित रहूँगा। उत्तम क्षमा के धारक पुरुषों को मात्र अपने आत्मा की शुद्धि ही साध्य है। इस जगत में अन्य कोई मेरा वैरी हो अथवा मित्र हो, इससे मुझे क्या ? वैरी या मित्र मेरा तो कुछ भी नहीं कर सकते। जो द्वेषरूप या प्रीतिरूप परिणाम करेगा, उसे स्वयं ही उसका फल मिल जाएगा।

धर्मात्मा भावना करता है — मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है। मित्र के प्रति राग अथवा शत्रु के प्रति द्वेष करना, हमारे हृदय में नहीं है। वास्तव में तो इस संसार में कोई किसी का शत्रु या मित्र है ही नहीं। यह स्वेच्छाचारी लोक मुझे भला कहे या बुरा, इससे मुझे क्या ? कोई भी वैरी मेरे आत्मा को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है और न कोई भक्त मेरे आत्मा को लाभ कर सकता है। यदि भक्तजन भक्ति करते हैं तो अपने शुभराग के कारण और यदि वैरी निन्दा करते हैं तो अपने द्वेष परिणाम के कारण ही करते हैं। मैं तो दोनों का जाननेवाला हूँ; मेरे ज्ञान में तो दोनों ज्ञेयरूप हैं। इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव की भावना के बल से ज्ञानी सन्तों के राग-द्वेष रहित क्षमाभाव होता है, यही उत्तम क्षमाधर्म है।

जिसने अपने ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं की हो, उस जीव के कदाचित् बाह्य में शुभपरिणाम दिखलाई देते हों किन्तु वह शुभराग को आत्मा का स्वरूप मानकर, निज ज्ञानस्वभाव के अनादररूप अनन्त क्रोधभाव का सेवन करता है। वस्तुतः सम्यग्दर्शनसहित क्षमा ही उत्तम क्षमा है और वही धर्म है।

अब, विशेषरूप से यह बतलाते हैं कि उत्तम क्षमाधर्म को धारण करनेवाला धर्मात्मा कैसा चिन्तवन करता है ? —

(स्रग्धरा)

दोषानाघुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशिः
मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि॥ ८५॥

मेरे दोषों को सबके समक्ष प्रगट करके संसार में दुर्जन सुखी हो; धन के लोलुपी मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी हो जाओ; शत्रु मेरा जीवन लेकर सुखी हों; जिसे मेरा स्थान लेना है, वह स्थान लेकर सुखपूर्वक रहें, तथा जो राग-द्वेष रहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें, वे मध्यस्थ रहकर सुखी रहें, इस प्रकार समस्त जगत् सुखपूर्वक रहे किन्तु किसी भी संसारी जीव को मुझसे दुःख न पहुँचे, मैं ऐसी पुकार सबके समक्ष करता हूँ।

इसमें समस्त संसार के जीवों से निरपेक्ष होकर, अपने आत्मा में वीतरागभाव से रहने की भावना है। मेरे ज्ञान में राग-द्वेष करने का स्वभाव ही नहीं है। मुनिराज स्वयं अपने आत्मा की आराधना की उग्रता करते हुए पुकार करते हैं कि — इस जगत के जीव जिसमें उन्हें सुख मिले, वैसा ही वर्तें किन्तु मैं अपने ज्ञाताभावरूप क्षमा को नहीं छोड़ूँगा। कोई मेरे दोष बतलाकर या पिच्छी-कमण्डल लेकर अथवा स्थान लेकर, भले ही सुख मानें और अन्य कोई वीतरागभावरूप रहकर सुखी हो किन्तु मुझे दोनों के प्रति समभाव है। समस्त जगत् सुखी रहे — ऐसी भावना है। जगत् का कोई भी जीव दुःखी हो — ऐसी भावना नहीं है। इस प्रकार वास्तव में वे स्वयं वीतरागरूप रहना चाहते हैं।

मुनियों के पास धन इत्यादि तो होता ही नहीं किन्तु पिच्छी - कमण्डल अथवा पुस्तक होती है। यदि कोई उसे ले जाता है तो भले ही ले जाए। पिच्छी-कमण्डलादि मेरे नहीं हैं और उन्हें ले जानेवाले के प्रति मुझे द्वेष नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूँ। मुझे वीतरागभावरूप से मध्यस्थ रहनेवाले ज्ञानियों के प्रति राग नहीं है और प्राणघातक अज्ञानी के प्रति द्वेष नहीं है। मेरे निमित्त से कोई जीव दुःखी न हो; मैं तो जगत में जो कुछ होता है, उसे जानता रहूँ और अपने आत्मा के वीतरागभाव में स्थिर रहूँ — यही भावना है। इस प्रकार यहाँ सम्पूर्ण परिग्रहरहित ज्ञायकभाव की भावना की पुकार की है।

मुनिदशा में स्वरूपानुभव की एकाग्रता में स्थिर होकर क्रोधादिभाव उत्पन्न ही नहीं होने देना, उत्तम क्षमा है।

गृहस्थ के क्रोधादिभाव होते अवश्य हैं किन्तु क्रोधादिभाव होने पर भी 'मेरा ज्ञानस्वरूप इन क्रोधादिभावों से भिन्न है, मेरे स्वरूप में क्रोध नहीं है; वास्तव में मेरा ज्ञान तो क्रोध का भी ज्ञाता है' — इस प्रकार क्रोध से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान -स्थिरता रखना, उत्तम क्षमा है।

जो राग को अपना स्वरूप मानता है, वह अपने आत्मा की हिंसा करनेवाला अनन्त क्रोधी है। यहाँ पर मुख्यतः तो मुनिदशा के धर्म की बात है किन्तु इसमें गौणरूप से सम्यग्दृष्टि श्रावक की क्षमा भी आ जाती है — ऐसा जानना चाहिए।

अब, इस अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि वीतरागभाव को

छोड़कर यदि राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होती हो तो स्वभाव की उग्र भावना द्वारा उस वृत्ति को नष्ट कर देना चाहिए, वह उत्तम क्षमा है।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

किं जानासि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्यचूड़ामणिं
किं तद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किंवा न लोको जड़ः।
मिथ्यादृग्भिरसजनैरपटुभिः किञ्चित्कुतोपद्रवात्
यत्कर्मार्जनहेतुमस्थिरतया बाधां मनो मन्यसे॥ ८६॥

अपने स्वरूप की वीतरागी स्थिरता में से बाहर निकलकर पर-सन्मुख वृत्ति होने पर, किञ्चित् राग या द्वेष का विकल्प उठे तो उसे तोड़कर, सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लिए स्वयं अपने को सम्बोधन कर कहते हैं कि रे मन! मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्खजनों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवों से चञ्चल होकर, कर्म आने में कारणभूत वेदना का तू अनुभव करता है, तो क्या तू अपने त्रिलोक में सर्वश्रेष्ठ पूजनीय वीतरागभाव को नहीं जानता? तथा तूने जिस धर्म का आश्रय ग्रहण किया है, क्या तू उस धर्म को नहीं जानता? और यह समस्त लोक अज्ञानी-जड़ है, क्या इस बात का तुझे ज्ञान नहीं है? अर्थात् तीन लोक में वीतरागभाव ही सर्वश्रेष्ठ है — ऐसा जानकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, वीतरागभावरूप चारित्र ही धर्म है, उसे पहिचानकर और यह लोग जड़-मूर्ख हैं — ऐसा समझकर; हे जीव! तू मूर्ख अज्ञानियों द्वारा किये जानेवाले उपसर्गों से अपने वीतरागभाव को मत छोड़; राग-द्वेष करके दुःखी मत हो!

पर जीवों के साथ उत्तम क्षमा का सम्बन्ध नहीं है। पर जीवों को क्षमा करना अथवा पर जीव अपने को क्षमा करें — ऐसी क्षमा की

बात यहाँ नहीं है। 'समस्त पर जीव अपने को क्षमा करें, तभी क्षमा कहलाती है' — यदि ऐसा हो तो जब तक अन्य जीव क्रोध को दूर करके क्षमाभाव नहीं करें, तब तक अपने को भी वीतरागी क्षमाभाव नहीं हो सकेंगे अर्थात् तब तो क्षमा पराधीन हुई किन्तु परधीनता में तो कभी भी धर्म नहीं हो सकता।

यहाँ तो स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव को रागादि विकारों से भिन्न जानकर, चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष नहीं करना और वीतरागी ज्ञाताभावरूप से स्थिर रहना ही उत्तम क्षमा है, वह स्वाधीन है। परजीव क्षमा दे या न दे, तो भी यह जीव स्वयं अपने में उत्तम क्षमाभाव प्रगट कर सकता है।

यहाँ तो मुनिदशा में शुभ या अशुभ विकल्प की उत्पत्ति होना भी उत्तम क्षमा में भङ्ग है। उसका अभाव करके वीतरागभाव की भावना करते हुए मुनिवर स्वयं अपने को सम्बोधन करके कहते हैं — रे आत्मा! तू अज्ञानी जीवों द्वारा किये गये उपद्रवों से दुःखित होकर क्लेश करता है तो क्या तू त्रिलोक पूज्य अपने वीतरागभाव को नहीं जानता? कि जिससे तू वीतरागता को छोड़कर ऐसा द्वेषभाव करता है?

मात्र वीतरागभाव ही उत्तम क्षमाधर्म है। मैं वीतराग होऊँ और राग को दूर कर दूँ — ऐसे विकल्प की भी यहाँ मुख्यता नहीं है। विकल्प क्षमा नहीं है किन्तु स्वभाव की एकाग्रता में वीतरागरूप से परिणमित हो जाना और राग-द्वेष की उत्पत्ति ही न होने देना, उत्तम क्षमा है। जितने रागादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, उतना उत्तम क्षमा में भङ्ग पड़ता है — ऐसा उत्तम क्षमाधर्म का स्वरूप है। उसका

सम्पूर्ण रूप से पालन न कर सके तो भी उसके यथार्थ स्वरूप को पहिचानकर, श्रद्धा-ज्ञान करना और जो रागादिभाव होते हैं, उनका आदर नहीं करना भी उत्तम क्षमाधर्म का अंश है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अखण्ड चैतन्यस्वभाव की ओर का बल स्थिर रहते हुए जितने अंश में क्रोधदिभाव न हों, उतने अंश में सहज क्षमा है।

इस श्लोक में आचार्यदेव ने लोगों को जड़ कहा है। वहाँ लोगों पर द्वेष नहीं है किन्तु अपनी आराधकता की उग्रता है। अपना ज्ञान केवलज्ञान होने के लिए उछल रहा है, लोग क्या कहते हैं ? यह देखने की आवश्यकता नहीं है। लोग तो जड़समान हैं, वे तो चाहे जो कहेंगे किन्तु हे मुनि! केवलज्ञान प्राप्त करने की तत्परता में तुझे जो भी उपसर्ग आएँ, उनके सन्मुख क्या देखना है ? तुझे अपने में जो शुभ विकल्प उत्पन्न होते हैं, उनका भी बल नहीं है और अपनी पर्याय के सन्मुख भी तुझे नहीं देखना है किन्तु मात्र ज्ञायकस्वभाव पूर्ण है, उसी में लक्ष्य करके लीन हो जाना है। इस प्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव की भावना के बल से चैतन्य समुद्र फटकर मानों इसी समय केवलज्ञान होगा — ऐसी दशा मुनिराज के प्रवर्तमान है।

मुझ में पूर्ण ज्ञायकत्व है, इसलिए मैं पूर्ण ज्ञायक रहकर समस्त जीवों के प्रति क्षमा करता हूँ; सबके प्रति जो राग-द्वेष है, उसे छोड़कर मैं वीतरागभाव से अपने स्वभाव में रहता हूँ; मुझे पर की उपेक्षा है और स्वभाव की एकाग्रता है। इस प्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव की रुचि और एकाग्रता करके, आराधना करना ही महान पर्व है।

पर में लक्ष्य जाकर कल्पना उत्पन्न हो कि 'ऐसा क्यों ?'

अथवा उपसर्ग पर लक्ष्य जाए कि मैं उपसर्ग सहन करूँ — यदि ऐसी वृत्ति उत्पन्न होती हो तो उसे तोड़ने के लिए कहते हैं कि अरे मुनि! स्वभाव की एकाग्रता द्वारा तुझे केवलज्ञान क्यों नहीं और यह वृत्ति का उत्थान क्यों है ? इस प्रकार अप्रतिहतभाव से आराधना को स्थिर रखना मुनि की उत्तम क्षमा है। ●

उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए

इस जन्म-मरणरूप संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण करता हुआ जीव मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है अथवा नहीं भी करता अर्थात् उसे वह मनुष्य पर्याय अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होती है। यदि कदाचित् वह मनुष्यभव प्राप्त कर भी ले तथापि नीचकुल में उत्पन्न होने से उसका वह मनुष्य भव पापाचरणपूर्वक ही नष्ट हो जाता है। यदि किसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ तब भी वहाँ वह या तो गर्भ में ही मर जाता है अथवा बाल्यावस्था में भी शीघ्र मरण को प्राप्त करता है, इससे भी धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। पश्चात् आयु की अधिकता में वह धर्म प्राप्त हो जाय तो उसके विषय में उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए। *- श्री पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका*

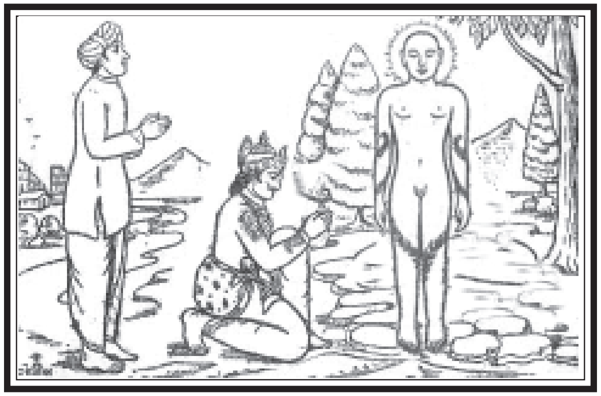

उत्तम मार्दवधर्म

ध्यानस्थ मुनिराज बाहुबली के चरणों में आकर भरत चक्रवर्ती ने उनकी पूजन की, तब भी बाहुबली ने गर्व न करते हुए, निज ध्यान में स्थिर रहकर तत्क्षण ही केवलज्ञान प्राप्त किया। जिन्होंने निर्मल भेदज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जगत को अपने से भिन्न और स्वप्नवत् जाना है और जो आत्मभावना में ही तत्पर हैं, उन्हें जगत के किसी भी पदार्थ में गर्व का अवकाश कहाँ है?

जिनका चित्त रत्नत्रय की आराधना में ही तत्पर है – ऐसे मुनि भगवन्तों को चक्रवर्ती नमस्कार करे तो भी मान नहीं होता है और किसी के द्वारा तिरस्कार करने पर दीनता भी नहीं होती है – ऐसे निर्मान मुनि भगवन्तों को नमस्कार हो। पञ्च परमेष्ठी आदि धर्मात्माओं एवं गुणीजनों के प्रति बहुमानपूर्वक विनय करना भी मार्दवधर्म का एक प्रकार है।

*हे सन्तों! हमें भी **उत्तम मार्दवधर्म** की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम मार्दवधर्म

आज दशलक्षण पर्व का दूसरा दिन है। कल उत्तम क्षमाधर्म का दिन था, आज उत्तम मार्दवधर्म का दिन है। सनातन जैनधर्म के अनादिनियम के अनुसार इन भादव सुदी ५ से १४ तक से दश दिनों को 'दशलक्षण पर्व' कहते हैं और वही सच्चा पर्यूषण है। आज उत्तम मार्दवधर्म का दिन होने से 'पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका' शास्त्र से उसका वर्णन हो रहा है। उसके वर्णन के दो श्लोक हैं।

उत्तम मार्दव अर्थात् उत्तम निरभिमानता। सम्यग्दर्शनसहित निरभिमानता, उत्तम मार्दवधर्म है। उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दश धर्म सम्यग्दर्शनयुक्त जीव के ही होते हैं — ऐसा ध्यान रखना चाहिए।

(बसंततिलका)

धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं
जात्यादिगर्वपरिहारमुशन्ति सन्तः।
तद्धार्यते किमुत बोधदृशा समस्तं
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः॥ ८७॥

अर्थ :– उत्तम जाति, कुल, बल, ज्ञान इत्यादि के अभिमान का त्याग, वह मार्दव है। यह मार्दव, धर्म का अङ्ग है। जो अपनी सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से समस्त जगत को स्वप्न तथा इन्द्रजाल की भाँति देखते हैं, वे उत्तम मार्दवधर्म को धारण क्यों नहीं करेंगे? अर्थात् अवश्य धारण करते हैं।

यहाँ मुख्यत: मुनि की अपेक्षा से कथन है। उत्तम क्षमादि दश धर्म सम्यक्चारित्र के ही भेद हैं; सम्यग्दर्शन के बिना वे धर्म नहीं होते। आत्मा, शरीर-मन-वाणी की क्रिया नहीं करता क्योंकि आत्मा उनसे भिन्न ही है। दया, दान, व्रत, भक्ति इत्यादि का शुभराग भी धर्म नहीं है और न वे भाव धर्म में सहायक ही हैं। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, विकाररहित है — ऐसे अपने निश्चय स्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात्, विशेष स्वरूपस्थिरता से चारित्रदशा प्रगट होती है। उस दशा में धर्मी जीव को ऐसी आत्मस्थिरता होती है कि जाति, कुल आदि के अभिमान का विकल्प भी उत्पन्न नहीं होता — इसका नाम उत्तम मार्दवधर्म है।

जो चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं पहिचानता और शरीर, कुटुम्ब, कुल, धन आदि को अपना मानता है, उसके कभी भी जातिमद आदि दूर नहीं होते और उत्तम मार्दवधर्म नहीं होता। धर्मात्मा जीव के वास्तव में जाति, कुल, धन इत्यादि का मद नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, आत्मा के शरीर ही नहीं है और माता-पिता, कुल-जाति, धन इत्यादि भी आत्मा के नहीं हैं; इस प्रकार अपने सम्यग्ज्ञान द्वारा समस्त संसार को अपने से भिन्न देखनेवाले को निरभिमानता क्यों नहीं होगी ? अवश्य होती है।

आत्मा की जाति शुद्ध चैतन्यधातु नित्य आनन्दकन्द है। वीतरागता आत्मा का कुल है और आत्मा स्वयं केवलज्ञानरूप चैतन्य लक्ष्मी का स्वामी है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी जाति, कुल, लक्ष्मी को ज्ञानी अपना नहीं मानते; इस कारण उन्हें उसका अभिमान भी नहीं होता। ज्ञानी को शरीर या शरीर सम्बन्धी कोई भी पदार्थ अपनेरूप

भासित नहीं होते। राग अथवा अपूर्णज्ञान को भी वे अपना स्वरूप नहीं मानते, अपितु परिपूर्ण स्वभाव को ही अपना मानकर, उसकी श्रद्धा करते हैं; इसलिए ज्ञानी के जातिमद, कुलमद, ज्ञानमद या बलमद नहीं होता। उन्होंने जाति कुलादि को अपने से भिन्न जाना है; इसलिए उनका अभिमान नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान ही उत्तम मार्दवधर्म का मूल है — ऐसा यहाँ बतलाया है।

जाति-कुल आदि से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप जानने के पश्चात् भी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा गृहस्थ को अस्थिरता के कारण कुलमद इत्यादि की वृत्ति तो उठती है किन्तु उस धर्मात्मा को रागरहित स्वभाव में एकता के बल के कारण उसका निषेध वर्तता है। वह राग को अपना स्वरूप नहीं जानता। उसे राग का आदर नही है, अपितु स्वभाव का ही आदर है; इसलिए परमार्थत: तो वह सम्यग्ज्ञान के द्वारा उस वृत्ति का भी ज्ञाता ही है। इसलिए यथार्थत: धर्मी जीवों को जाति आदि मद नहीं होते हैं।

धर्मी जीव को, माता-पिता से अथवा कुल-जाति इत्यादि से पहिचानना भी ठीक नहीं है किन्तु उसके अन्तरङ्ग के श्रद्धा-ज्ञान के द्वारा पहिचानना ही यथार्थ है। धर्मी जीव किसी भी बाह्य पदार्थ से अपना बड़प्पन नहीं मानते। वे तो स्वभाव के सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अभेदता होकर जितना राग दूर हो गया, उतना बड़प्पन है और जितना राग शेष रहा, उतनी हीनता है — ऐसा जानते हैं। बाह्य पदार्थों से अपने को बड़ा मानना मद है और मेरी जाति हल्की, मेरा कुल नीचा, इत्यादि प्रकार से बाह्यपदार्थों से अपने को हीन मानना भी मद ही है क्योंकि ऐसी मान्यतावाले ने जाति-कुल आदि में अहंपना / मैंपना किया है।

यहाँ तो सर्व प्रथम सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान करने के पश्चात्, विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वरूपस्थिरता प्रगट करके, सन्त-मुनिदशा में जाति -कुल आदि का विकल्प तोड़कर, वीतरागी स्थिरता बढ़ाने की बात है।

उत्तम निरभिमानता किसे किसे कहते हैं? कहाँ से हो सकता है? आत्मा नित्य ज्ञानघन है; देहादि अनित्य संयोग आत्मा का स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार 'घी का घड़ा' — ऐसा बोला जाता है किन्तु वह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं है; उसी प्रकार ज्ञानी को पहिचानने के लिए ऐसा कहा जाता है कि यह माता-पिता, यह कुल, यह जाति किन्तु वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है। ज्ञानी को उसकी आत्मा से पहिचानना ही यथार्थ पहिचान है।

आत्मा का संसार, माता-पिता, स्त्री, शरीरादि में नहीं, अपितु अपनी पर्याय में जो अज्ञान और राग-द्वेष है, वह संसार है। आत्मा का संसारभाव आत्मा की दशा में ही है। अज्ञानी जीव भ्रम से ऐसा मानता है कि यह मेरी माता, यह मेरे पिता इत्यादि। उसका यह भ्रम ही संसार है। अज्ञानी जीव स्वयं अपने को चैतन्यस्वरूप से नहीं जानता; अपने को शरीरयुक्त मानता है। इससे शरीर के सम्बन्धी माता-पिता को ही अपने माता-पिता मानता है और इसी कारण जीव को शरीर के रूप इत्यादि का अभिमान होता है।

वास्तव में तो आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप है और माता-पिता इत्यादि का आत्मा भी चैतन्यस्वरूप है; कोई आत्मा शरीररूप नहीं है, तब फिर कौन किसके माता-पिता और कौन किसका पुत्र? जिनके ऐसी दृष्टि है, उन्हीं के पर का अहङ्कार दूर होता है। यह शरीर

तो जड़ परमाणु है-मिट्टी है। जो जीव शरीर के बल का अभिमान करता है, वह जड़ का स्वामी बनता है। मैं सदा ही शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूपी अरूपी स्वभाव हूँ — ऐसा उसे भान नहीं है। निज चैतन्यस्वरूप का अनादर करके, शरीर के बल इत्यादि का अहङ्कार करनेवाला जीव महान हिंसक है। शरीर मेरा है, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और शारीरिक शक्ति अच्छी हो तो धर्मध्यान बराबर हो सकता है — ऐसा माननेवाला जीव आत्मा की हिंसा करनेवाला है। वस्तुतः आत्मा शरीरादि का कुछ भी नहीं कर सकता। आत्मा का बल अर्थात् पुरुषार्थ या तो अज्ञानभाव से पुण्य-पाप में अटक जाता है या असङ्ग स्वभाव को जानकर उसमें राग-द्वेष रहित स्थिरता प्रगट करता है।

ज्ञानी जीव जानता है कि मात्र पूर्ण ज्ञान और आनन्द ही मेरा रूप है। जाति, कुल, शरीर, बल, विद्याएँ अथवा अपूर्णज्ञान — ये कोई भी मेरा रूप नहीं है। जहाँ ऐसा भिन्नत्व यथार्थतया जाना, वहाँ पर का अहङ्कार दूर हो गया। पश्चात् जो अल्पराग की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका भी ज्ञानी के निषेध है। यहाँ ऐसी बात है कि उस रागवृत्ति को उत्पन्न ही नहीं देना और वीतरागरूप स्थिर रहना, उत्तम मार्दवधर्म है और वह धर्म मोक्षमार्ग में विचरनेवाले मुनियों को सहचररूप होता है।

जैन अर्थात् जीतनेवाला। जिसने आत्मा का पर से भिन्न स्वरूप जानकर, मिथ्यात्व-अज्ञान को जीत लिया है अर्थात् नष्ट किया है तथा जिसने आत्मस्वरूप में स्थिरता द्वारा राग-द्वेष को जीत लिया है, वही जैन है। जो जैन होता है, वह 'मैं पर का करता हूँ' — ऐसा

मिथ्या अभिमान नहीं करता और राग–द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता।

ज्ञानियों के ज्ञानमद नहीं होता। शास्त्र का ज्ञान या अवधि, मन:पर्ययज्ञान हो, उसका ज्ञानी को अभिमान नहीं होता। जिन्होंने पूर्ण ज्ञानस्वभाव ही जाना है, उन्हें अपूर्ण ज्ञान में सन्तोष या उसका अभिमान कैसे होगा ? बारहवें गुणस्थान तक का समस्त ज्ञान अल्प है, केवलज्ञान के अनन्तवें भागमात्र है। उस तुच्छ पर्याय का ज्ञानी को अभिमान नहीं है किन्तु वे तो अनन्त चैतन्यस्वभाव की महिमा और विनय से स्वभाव में लीन होकर, अपूर्णज्ञान का विकल्प छोड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। थोड़े से शास्त्र पढ़कर अथवा थोड़ा सा सुनकर, 'मैं बहुत जानता हूँ' — जिसे ऐसा अभिमान होता है, वह जीव पर्यायदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है, उसने पूर्णस्वभाव को नहीं जाना है; इसलिए उसे किञ्चित् जानपने की महिमा और अभिमान होता है।

कोई जीव सत्स्वभाव की समझ के बिना, मन्दकषाय करके निरभिमानता रखे तो वह पुण्यबन्ध का कारण है, यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो धर्मात्मा को स्वभाव की जागृतिपूर्वक वीतरागभाव प्रगट होने से मद का विकल्प ही नहीं होता, वही सच्चा मार्दवधर्म है, उसकी बात है। स्वभाव को जाने बिना पर्याय का अभिमान दूर नहीं होता है और न उत्तम मार्दवधर्म होता है।

इन दश धर्मों का वर्णन करनेवाले श्री पद्मनन्दि आचार्य महान सन्त–मुनि हैं, छट्ठे–सातवें गुणस्थान में झूल रहे हैं, उन्हें प्रचुर वीतरागता प्रगट हुई है और अल्पराग रह गया है। इस कारण वे कहते हैं कि

अहो ! सिद्ध भगवान का गुणगान हम क्या कर सकते हैं ? हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है; हम तो मूढ़मति–जड़बुद्धि हैं। जहाँ तक पूर्ण केवलज्ञान / परमात्मदशा को प्राप्त नहीं किया, वहाँ तक पामरता है। यद्यपि आचार्य–सन्त तो महा ज्ञान के सागर हैं, अगाध बुद्धिवाले हैं, तीव्र आराधकदशा प्रगटी है, तथापि उनके कितनी निरभिमानता है ? वे ज्ञान का किञ्चित् भी गर्व नहीं करते हैं। अपूर्ण और पूर्णदशा के विकल्प को तोड़कर बारम्बार स्वरूप में लीन हो जाते हैं — इसका नाम मार्दवधर्म है।

पर्यायदृष्टि को छोड़कर, अखण्डस्वभाव के श्रद्धा–ज्ञान को स्थिर रखना, यह गृहस्थ का धर्म है किन्तु शुभराग करना या पूजा–भक्ति करना, वह कहीं गृहस्थ का धर्म नहीं है। अशुभराग से बचने के लिए धर्मी गृहस्थ के पूजा–भक्ति इत्यादि का शुभराग होता अवश्य है किन्तु वह शुभराग, धर्म नहीं है; अपितु रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक जितना राग दूर हुआ, उतना धर्म है। जो राग रहा, वह धर्म नहीं है।

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वरूप में जागृत है। मेरे स्वरूप में मान – अपमान की वृत्ति नहीं है; यह समस्त संसार इन्द्रजाल के समान और स्वप्नवत् है अर्थात् मेरे स्वभाव में समस्त जगत का अभाव है; जगत में किसी के साथ मेरा सम्बन्ध ही नहीं है — ऐसा जाननेवाले ज्ञानियों के मान कहाँ से होगा ? अर्थात् नहीं होगा। मुनि के तो मान की वृत्ति ही नहीं उठती, यह निरभिमानता है और ज्ञानी गृहस्थ के किसी मानादि की वृत्ति हो जाये तो भी वह उसका ज्ञाता ही है। उसे मानादि से भिन्न आत्मस्वरूप के श्रद्धा–ज्ञान की दृढ़ता होती है। मैं

नित्य अबन्ध चैतन्यस्वभाव हूँ — ऐसे स्वभाव की प्रभुता के समक्ष ज्ञानी को अपूर्ण पर्याय की पामरता भासित होती है, उन्हें क्षणिक पर्याय का अभिमान नहीं होता। उनको ही स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव होने पर उत्तम मार्दवधर्म होता है।

अब, कहते हैं कि स्व-पर के भिन्नत्व के विवेक द्वारा शरीर की अनित्यता का चिन्तवन करनेवाले मुनियों को किसी भी पदार्थ में अहङ्कार करने का अवसर ही नहीं मिलता —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम्।
इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनः शश्वद्विवेकोज्ज्वले
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि॥ ८८॥

जैसे कोई महल अत्यन्त सुन्दर, शोभायमान हो किन्तु यदि वह सब ओर से अग्नि द्वारा सुलग रहा हो तो उसके बचने की अंशमात्र आशा नहीं है, वैसे ही यह शरीर वृद्धावस्थासहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था धारण करता है। इस प्रकार अपने हृदय में निरन्तर सम्यग्ज्ञानरूपी उज्ज्वल विवेक से शरीर की अनित्यता का चिन्तवन करनेवाले मुनि को जगत के समस्त पदार्थों में गर्व करने का अवसर ही किस प्रकार है? अर्थात् जो ध्रुव नित्य चैतन्यस्वभाव को जानकर और शरीर की अनित्यता को समझकर, निर्मल आत्मध्यान में मग्न हैं, उन मुनियों को जगत में किन्ही भी पदार्थों का गर्व होता ही नहीं।

अत्यन्त मनोहर उद्यानयुक्त भवन हो, वह चारों ओर से अग्नि में

जलने लगे और उसके बचने की किञ्चित्मात्र आशा न हो तो लोग उसका स्वामित्व छोड़कर बाहर भागते हैं — ऐसा अनित्यता का दृष्टान्त देकर, आचार्यदेव समझाते हैं कि यह शरीर अनित्य है, वृद्धावस्थायुक्त है, निरन्तर अपनी दशा को परिवर्तित करता हुआ जीर्णता को प्राप्त होता है; जैसी अवस्था आज है, वैसी कल दिखलाई नहीं देती — ऐसे इस अनित्य शरीर को किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता। जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है, वहाँ अन्य कौन से पदार्थ अपने हो सकते हैं? आत्मा का चैतन्यस्वभाव ही ध्रुव और नित्य एकरूप है, वह कभी जीर्ण नहीं होता और उसमें अग्नि भी नहीं लगती। इस प्रकार शरीरादि की अनित्यता और अपने चैतन्यस्वभाव की नित्यता का अपने अन्तरङ्ग में भेदज्ञान द्वारा विचार करनेवाले जीवों को, इस जगत में किसी भी पदार्थ के प्रति गर्व होने का अवकाश ही नहीं है। जहाँ शरीर को ही पर जान लिया, वहाँ अन्य किस का अहङ्कार करेगा?

शरीर अपने स्वभाव से ही निरन्तर एक अवस्था को बदलकर दूसरी अवस्था धारण करता है। शरीर की वृद्धावस्था हुई, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। धर्मी जीव को शरीर की किसी भी अवस्था का अहङ्कार नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वयं तो अरूपी चैतन्यस्वरूप है और शरीर जड़-परमाणुओं से निर्मित है। आत्मा ने कभी भी शरीरादि का स्पर्श नहीं किया, वह तो अस्पर्शस्वभावी है।

शरीर क्रमशः प्रतिक्षण में नाश को प्राप्त होगा, वह स्थायी नहीं रहेगा। मैं त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मेरे स्वरूप के आश्रय से मेरी निर्मल दशा प्रतिक्षण बदलती है। अपने स्वभाव के आश्रय से बदलकर जो केवलज्ञानदशा होगी, वह तो द्रव्य में अभेद एकाकार होकर सदा

ज्यों की त्यों रहेगी किन्तु शरीर की कोई भी अवस्था मेरे साथ रहनेवाली नहीं है। ऐसा जानकर अपने ज्ञान में स्थिरता प्रगट करके, जिन धर्मात्माओं ने देहादि के अभिमान का विकल्प छोड़ दिया है और स्वभाव की दृढ़ता को प्राप्त किया है, उनके उत्तम मार्दवधर्म होता है।

हिलना-डुलना, बोलना, स्थिर रहना, मौन रहना, खाना-पीना इत्यादि आत्मा नहीं करता, यह सब तो शरीर की क्रियाएँ हैं। वे क्रियाएँ मैं करता हूँ — ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, उसे जड़ के कर्तत्त्व का अहङ्कार है। देह के परमाणुओं की पर्याय प्रति समय अपने आप ही बदलती है, उसके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। मेरी पर्याय का सम्बन्ध अपने त्रिकाली द्रव्य के साथ है। निर्मल ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप मेरी दशा, प्रति समय बदलकर ध्रुव-स्वभाव में एकता बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्वभाव में एकता होने से ज्ञानी को पर का अभिमान कैसे हो?

अहो! मुनिवरों को अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई हों, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ हो, तथापि अभिमान का किञ्चित् विकल्प भी नहीं होता, उलटे नम्र होकर स्वभावोन्मुखता द्वारा पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करते हैं। मुनि को पर्याय की ओर लक्ष्य जाकर विकल्प उत्पन्न हो कि 'केवलज्ञान प्रगट करूँ' तो वह भी राग है। — ऐसे विकल्प को भी तोड़कर जो वीतराग स्वरूपस्थिरता है, वह उत्कृष्ट मार्दवधर्म है और वही मुक्ति का कारण है।

मेरे उपदेश से दूसरे ने धर्म प्राप्त किया, अथवा मैं किसी अन्य को धर्म प्राप्त करा दूँ — ऐसी बुद्धि ज्ञानियों के नहीं होती। वाणी जड़ है, आत्मा उस वाणी का कर्ता ही नहीं है; तब फिर दूसरे को धर्म प्राप्त करा दूँ — यह बात ही कहाँ रही? इसलिए पर से भिन्न अपने स्वरूप को पहिचानकर मुनिवरों को निरन्तर ज्ञायक साक्षी स्वरूप आत्मा के निर्मल स्वभाव का ही ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार उत्तम मार्दवधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

उसका विचार करे तो....

आजकल तो मोटर-रेल-हवाईजहाज आदि की दुर्घटनाओं में कितने ही लोगों के मरने के समाचार आते हैं। आँख खुले और स्वप्न चला जाये, तदनुसार शरीर और भव क्षण में चला जाता है। हृदयाघात होने से क्षण में छोटी-छोटी उम्र में मृत्यु हो जाती है। अरे! यह सं... सा... र! नरक में अन्न का दाना भी नहीं मिलता, पानी की बूँद भी नहीं मिलती और प्रतिकूलता का पार भी नहीं है - ऐसे ऐसे प्रतिकूल संयोगों में अनन्तबार गया, परन्तु वहाँ से निकलने पर सब भूल गया। उसका विचार करे तो उन सब दुःखों से छूटने का मार्ग ढूँढे। अहा! ऐसा मनुष्यभव मिला और सत्य समझने का योग प्राप्त हुआ, उसमें अपना आत्मा का हित कर लेने जैसा है।

- दृष्टि के निधान

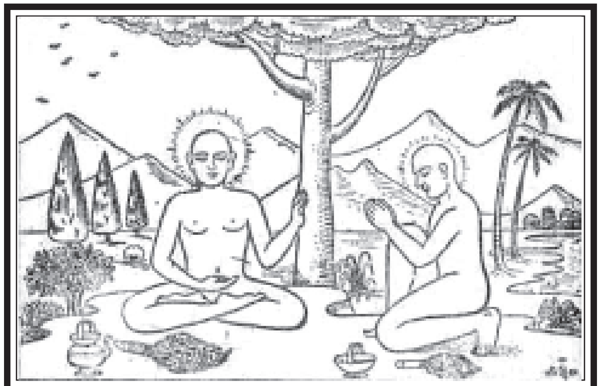

उत्तम आर्जवधर्म

जो भव-भ्रमण से भयभीत और रत्नत्रय की आराधना में तत्पर हैं – ऐसे मुनिराज को स्वयं की रत्नत्रय-आराधना में लगे हुए छोटे-बड़े दोषों को छिपाने की वृत्ति नहीं होती; अपितु जैसे बालक माता से सरलरूप से सब कह देता है, वैसे ही वे गुरु के समीप जाकर, अत्यन्त सरलरूप से अपने सर्व दोष प्रगट कर देते हैं। अत्यन्त सरल परिणामों द्वारा आलोचना करके उन दोषों को विनष्ट कर देते हैं तथा गुरु आदि के उपकार को सरलरूप से प्रगट करते हैं – ऐसे मुनिराजों को उत्तम आर्जवधर्म की आराधना होती है। उन आर्जवधर्म के आराधक सन्तों को नमस्कार हो।

हे सन्तों! हमें भी ***उत्तम आर्जवधर्म*** *की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम आर्जवधर्म

आज दशलक्षण पर्व का तीसरा दिन है। यह उत्तम आर्जवधर्म का दिन कहलाता है। **उत्तम आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता।** आत्मा के ज्ञायकस्वरूप में कपट का भाव ही उत्पन्न न होने देना, उत्तम सरलता है।

आत्मा ज्ञान–आनन्द की मूर्ति है, वह क्रोध–मान–माया–लोभ रहित है। उसे यथारूप अर्थात् जैसा है, वैसा समझना और श्रद्धा में वक्रता नहीं करना, सम्यग्दर्शनरूप सरलता है और चैतन्यस्वरूप को जैसा है, वैसा नहीं मानकर, स्वरूप की वक्रता करके, पुण्य – पापयुक्त मानना, अनन्त कपट है।

किसी पर के आश्रय से अथवा पुण्य परिणाम से आत्मा को लाभ मानना, वक्रता है, अनार्यता है। आर्य अर्थात् सरल। जैसा सहज ज्ञायकमूर्ति आत्मस्वरूप है, वैसा ही मानना; किञ्चित् भी विपरीत न मानना, वह सरलता है और चैतन्यस्वरूप की प्रतीति में वक्रता करके, किसी विकल्प या व्यवहार के आश्रय से लाभ मानना, वह अनार्यता है।

व्यवहाररत्नत्रय भी रागरूप है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का ज्ञायक स्वरूप पुण्य–पाप रहित है, व्यवहाररत्नत्रयरूप पराश्रितभाव से उसे लाभ मानना, वह अनन्त कपट का सेवन है और उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर, निश्चय शुद्ध ज्ञातास्वभाव को

जानना-मानना और उसमें स्थिर होना, वह उत्तम आर्जवधर्म है। स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान होने के पश्चात् मुनिदशा में जो व्यवहाररत्नत्रय की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह राग है; वह उत्तम आर्जवधर्म नहीं है किन्तु रागरहित होकर जितनी स्वरूप स्थिरता हुई, उतना ही उत्तम आर्जवधर्म है।

वास्तव में तो आत्मा के वीतरागभाव में ही उत्तम क्षमादि दशों धर्म आ जाते हैं। दशों धर्मों में वीतरागभाव एक ही प्रकार का है किन्तु वह वीतरागभाव होने से पूर्व क्षमा आदि जिस प्रकार का विकल्प होता है, उसी के अनुसार उत्तम क्षमादि नामों से उस वीतरागभाव को बतलाया जाता है और उस शुभ विकल्प को उपचार से उत्तम क्षमादिधर्म कहा जाता है।

यहाँ आचार्यदेव उत्तम आर्जवधर्म का वर्णन करते हैं —

(आर्या)

हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत्।
धर्मो विकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ॥ ८९॥

जो बात मन में हो, वही वचन के द्वारा प्रगट करना, उसे आर्जवधर्म कहते हैं और उससे विरुद्ध अर्थात् माया से दूसरे को ठगने का परिणाम, वह अधर्म है। इनमें से आर्जवधर्म, स्वर्ग का और अधर्म, नरक का पंथ है।

जैसा हृदय में हो, वैसा ही कहने का परिणाम तो शुभपरिणाम है। मैं वाणी से भिन्न अशब्द स्वरूपी हूँ और शुभपरिणाम भी मेरा स्वरूप नहीं है — ऐसे सम्यक्स्वभाव के भानपूर्वक जिसके शुभ - परिणाम का निषेध वर्तता है, उसके शुभपरिणाम को व्यवहार से

उत्तम आर्जवधर्म कहते हैं। परमार्थ से तो जैसा शुद्ध आत्मस्वभाव जाना है, वैसा ही परिणमन पर्याय में हो जाना ही उत्तम सरलता आर्जवधर्म है। जैसा स्वभाव है, वैसा ही परिणमित हो गया; किञ्चित्मात्र भी वक्रता (विकार)नहीं हुई, वह परमार्थ से उत्तम आर्जवधर्म है और उस स्वभाव में विकृति होकर जितना रागादि उत्पन्न हो, उतना उत्तम आर्जवधर्म में भङ्ग है।

यहाँ आर्जवधर्म के फल से स्वर्ग की प्राप्ति होना कहा है। सम्यग्दर्शनपूर्वक राग का अभाव करके, जितना वीतरागभावरूप आर्जवधर्म प्रगट किया है, वह तो मोक्ष का कारण है किन्तु उस समय पूर्ण वीतरागता नहीं है और अल्प राग रह जाता है, इसलिए उस शुभरागरूप आर्जवधर्म के फल में स्वर्ग मिलता है। राग के कारण बीच में भव धारण करने पड़ते हैं परन्तु जिन्हें स्वभाव का भान नहीं है और धर्म का अनादर करके वक्रता से वर्त रहे हैं, वे तो नरकगति में जाते हैं।

आत्मस्वभाव को विपरीत मानना ही सबसे बड़ी वक्रता है। आत्मा तो सरलता के शुभपरिणाम या वक्रता के अशुभपरिणाम — इन दोनों से रहित एक ज्ञायकस्वरूपी है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान को स्थिर रखना ही धर्म है। वह धर्म प्रत्येक गृहस्थ के हो सकता है। जिनके आत्मा में ऐसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अत्यन्त सरलता प्रगट हो गई, उनके उत्तम आर्जवधर्म है। चारित्रदशा में कपटभाव तो होने ही नहीं देना और 'सरलता करूँ' ऐसा शुभभाव हो तो उसे भी छोड़कर वीतरागी सरलता प्रगट करना, उत्तम आर्जवधर्म है।

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि मायाचार करने से अहिंसा इत्यादि उत्तम गुणों का भी लोप हो जाता है —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपि च्छायाविघातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः समादिष्वलम्।
सर्वे तत्र यदासतेऽविनिभृताः क्रोधादयस्तत्वतः
तत्पापं बत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरंभ्राम्यति॥ ९०॥

यदि एक बार भी मायाचारी की जाये तो अत्यन्त कठिनाई से सञ्चित किए हुए मुनि के गुण सत्य-अहिंसा आदि को ढक देती है अर्थात् मायाचारी पुरुष के अहिंसादि गुण भी आदरणीय नहीं रहते और उस मायाचाररूपी मकान में क्रोधादि कषायें भी छिपी रहती हैं। उस मायाचार से उत्पन्न हुआ पाप, जीव को अनेक प्रकार की दुर्गतियों में भ्रमण कराता है; इसलिए मुनियों को मायाचार उत्पन्न ही न होने देना चाहिए।

जो अपने रागादि दोषों को दोष के रूप में नहीं जानता और उन्हें धर्म मानता है, वह वास्तव में मायाचारी है। अपने दोष को छिपाने का भाव ही मायाचार है। जिसे सज्जन पुरुषों की यथार्थ बात नहीं रुचती और अपने दोष की बात को सुनकर कहते हैं कि 'अरे! क्या हम कपटी हैं ? मेरे कहने का आशय दूसरा था और आप कुछ दूसरा ही समझे हैं' — ऐसा कहकर जो अपना बचाव करना चाहता है, वह पापी-मायाचारी है। उस जीव में यदि अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि हों तो भी वास्तव में वे प्रशंसनीय नहीं है।

मुनिराज के भी जितने अंश में राग होता है, उतने अंश में उत्तम क्षमा-निरभिमानता इत्यादि धर्मों में कमी है। पहले अपने को सत् की प्रतीति नहीं थी और जिन सत्पुरुष के पास से अपूर्व सत् की प्रतीति हुई, उन सत्पुरुष के उपकार को न माने, अपने बड़प्पन के

लिए उनका नाम आदि छिपाये, उन्हें याद न करे, प्रगट न करे तो वह जीव कपटी है; वास्तव में उसने अपने स्वभाव को ही छिपाया है।

यहाँ पर मुख्यतः मुनिदशा की बात है किन्तु श्रावक-गृहस्थों को भी स्वभाव के भानपूर्वक मायारहित उत्तम सरलभाव प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिए और उत्तम क्षमादिधर्मों का जितना हो सके, उतना पालन करना चाहिए।

यदि मुनि को कुछ दोष लग गया हो और वह दोष यदि गुरु के पास प्रगट करने में संकोच करता है तो वह माया है। यदि दोष को छिपाने की बुद्धि से गुरु के पास प्रगट नहीं करता और अपने आप प्रायश्चित्त ले लेता है अथवा 'मैं अपना यह दोष प्रगट करूँगा तो बाह्य में मेरी निन्दा होगी' — ऐसे भय से दोष प्रगट नहीं करता अथवा उसे अल्प करके कहता है तो वह माया है और अपने से हो गये समस्त दोषों को सरलतापूर्वक प्रगट कर देने का भाव भी शुभभाव है। उस शुभभाव का आदर नहीं है, इसलिए वह मुनि के व्यवहार से उत्तम आर्जवधर्म है और वीतरागभाव से स्थिर रहकर दोष की उत्पत्ति ही न होने देना सो परमार्थ से उत्तम आर्जवधर्म है।

शुभराग से धर्म माननेवाला अज्ञानी जीव चाहे जैसी सरलता के परिणाम रखे, छोटे से छोटे दोष को भी प्रगट करके प्रायश्चित्त ले तो भी उसके किञ्चित् आर्जवधर्म नहीं है क्योंकि जहाँ राग में धर्म माना, वहाँ मूल मिथ्यात्वरूपी दोष है, इसका उसे भान नहीं है। जो दोष को ही गुण मान बैठा है, उसके सरलता कैसी ? उत्तम सरलता तो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकती है और वही धर्म है।

कोई जैसा मन में हो, वैसा ही वचन से बोलता है — ऐसी

सरलता रखता है किन्तु मान्यता ऐसी है कि यह वचन बोलने की क्रिया मैं करता हूँ और इससे मुझे लाभ होता है तो उस जीव के यथार्थ सरलता नहीं है। उसने वक्र मान्यता करके अपने सम्पूर्ण चैतन्यस्वभाव को छिपाया है — यही परमार्थ से अनन्त कपट है।

जो श्रीगुरु आदि के उपकार को छिपाता है, वह तो व्यवहार में भी सरल नहीं है, उसके उत्तम वीतरागी सरलता तो होती ही नहीं। जिसे व्यवहार सरलता प्रगटी हो, वह जीव गुरु के पास विनयपूर्वक कहता है कि प्रभो! मैं मूढ़, पामर था, आज तक मुझे कुछ भी पता नहीं था, आपकी कृपा से ही मुझे अपूर्व सत्य प्राप्त हुआ है। इस प्रकार सीधा-सरल होकर, अर्पणता लाकर स्वभाव का बहुमान किये बिना तो व्यवहार सरलता भी नहीं होती और उसका दोष दूर होकर वीतरागता भी प्रगट नहीं होती।

प्रथम तो भले प्रकार से यह पहिचान करना चाहिए कि धर्म क्या है और दोष क्या है? अपने परमार्थ स्वभाव को जानकर उसके आश्रय से स्थिर रहने में राग-द्वेषरूप माया की उत्पत्ति ही न हो — यह उत्तम आर्जवधर्म है। मुनियों के वैसी विशेष स्थिरता होती है किन्तु उनके जो अल्प राग होता है, उसे दूर करके वे सम्पूर्ण वीतरागी स्थिरता प्रगट करने का पुरुषार्थ करते हैं और गृहस्थों को प्रथम तो ऐसी यथार्थ पहिचान करना चाहिए तथा दोषों को टालकर स्थिरता बढ़ाने की भावना करनी चाहिए। जो अपने आत्मा में ऐसी यथार्थ प्रतीति करके वीतरागता प्रगट करता है, उसने ही सच्चा दशलक्षण पर्व मनाया कहा जाता है।

इस प्रकार उत्तम आर्जवधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

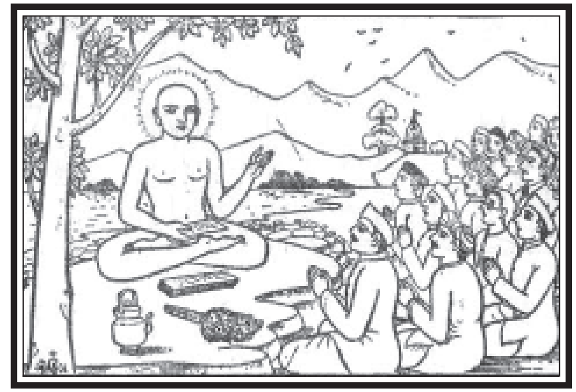

उत्तम सत्यधर्म

वस्तुतः तो मुनिराज वचन-विकल्प का परित्याग करके सत्स्वभाव की साधना में ही तत्पर हैं और कदाचित् यदि वचन बोलते भी हैं तो वस्तुस्वभाव के अनुसार स्व-पर हितकारी सत्य वचन बोलते हैं।

मुनिराज सम्यग्ज्ञान द्वारा वस्तुस्वभाव जानकर, उसका ही उपदेश देते हैं। उसे सुनकर श्रोताजन आत्मज्योति के सन्मुख होते हैं, उनका अज्ञान दूर होता है। वे स्वयं भी आत्मज्योति में परिणत होने के लिए सतत् उद्यमवन्त रहते हैं – ऐसे उत्तम सत्यधर्म के आराधक सन्तों को नमस्कार हो।

*हे सन्तों! हमें भी **उत्तम सत्यधर्म** की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम सत्यधर्म

आज दशलक्षण धर्म का चौथा दिन है। उत्तम क्षमा, मार्दव और आर्जव, इन तीन धर्मों के स्वरूप का वर्णन हो चुका है। आज उत्तम सत्यधर्म का दिन है। इन उत्तम क्षमादि धर्मों का आराधन सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है। इन भादव सुदी ५ से १४ तक के दश दिनों को दशलक्षण पर्व कहते हैं और वही पर्यूषण पर्व है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निर्ग्रन्थ सन्त मुनिवरों के उत्तम सत्यधर्म कैसे होता है, उसका वर्णन श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव करते हैं —

(आर्या)

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम्॥ ९१॥

उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करनेवाले मुनिवरों को, प्रथम तो मौन ही रहना चाहिए अर्थात् परमसत्य आत्मस्वभाव की एकाग्रता में रहकर बोलने का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए और यदि विकल्प उठे तो ऐसे वचन बोलना चाहिए कि जो सदैव स्व-पर को हितकर हों, अमृत के समान मिष्ट और सत्य हों।

सम्यग्ज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के धारक मुनियों के ही उत्तम सत्यधर्म होता है। उत्तम सत्यधर्म सम्यक्चारित्र का एक प्रकार है। जिसे सम्यग्ज्ञान न हो और ऐसा मानता हो कि आत्मा पर का कर्ता है, पुण्य धर्म होता है, ईश्वर जगत का कर्ता है — वह जीव

यदि लोक-व्यवहार में सत्य बोलता हो तो भी उसके उत्तम सत्यधर्म नहीं होता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के बाद मुनिदशा की मुख्यरूप से बात है।

उत्तम सम्यग्ज्ञान के धारक मुनिवरों को प्रथम तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है अर्थात् चैतन्यस्वरूप में वीतरागी स्थिरता प्रगट करके वाणी की ओर का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए। — ऐसा वीतरागीभाव ही परमार्थ से उत्तम सत्यधर्म है और अस्थिरता के कारण जब विकल्प उठे, तब स्व और पर को हितकर, सत्य तथा प्रिय वचन बोलने का शुभराग, वह व्यवहार से उत्तम सत्यधर्म है। उसमें जो राग है, वह धर्म नहीं है किन्तु उस समय जितना वीतरागभाव है, उतना धर्म है। वाणी बोली जाए या न बोली जाए, वह तो जड़ परमाणुओं की स्वतन्त्र अवस्था है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आत्मा वाणी का कर्ता है — ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, उसके सत्यधर्म नहीं होता।

प्रश्न — यदि वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है तो यहाँ आचार्यदेव ने 'मुनियों को सत्य वचन बोलना' चाहिए — ऐसा किसलिए कहा है?

उत्तर — यदि सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य बोलने के भाव के समय वाणी निकले तो वह सत्य ही होती है — ऐसा मेल बतलाने के लिए निमित्त अपेक्षा से कहा जाता है कि 'मुनियों को सत्य बोलना चाहिए।' इसमें कथन का आशय यह है कि मुनियों को आत्मस्वरूप में स्थिर रहकर वाणी की ओर का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिए और यदि विकल्प हो तो असत्य वचन की ओर का अशुभराग तो होने ही नहीं

देना चाहिए। किन्तु आत्मा जड़ वाणी का कर्ता है — ऐसा उक्त कथन का तात्पर्य नहीं है।

वाणी बोली जाए अथवा न बोली जाए — उसका कर्ता जीव नहीं है। ज्ञानी अपने को वाणी का कर्ता नहीं मानते और सत्य बोलने का विकल्प हो, उसके स्वामी भी ज्ञानी नहीं होते; वे तो वाणी और विकल्परहित चिदानन्दस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानकर, उसका आदर करते हैं। इस प्रकार श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान में धर्मात्मा को भी उत्तम सत्य इत्यादि धर्म होते हैं।

वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा ही सत्य जानना सो धर्म है। जैसी है, वैसी ही सत्य वस्तु जाने बिना धर्म हो ही नहीं सकता। सम्यग्ज्ञान से वाणी-विकल्परहित आत्मस्वरूप को जानने के पश्चात्, उस स्वरूप में स्थिरता करने में उत्तम क्षमादि दशों धर्म समाविष्ट हो जाते हैं और सत्य बोलने का, उपदेशादि का विकल्प उत्पन्न होना, व्यवहार से उत्तम सत्य है। सत्य बोलने के विकल्प को अथवा वाणी को ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानते। मैं वीतरागभाव का कर्ता हूँ; इच्छा अथवा भाषा का कर्ता मैं नहीं हूँ और न वे मेरे कर्म हैं।

जो सत्य बोला जाता है, उन शब्दों का मैं कर्ता हूँ — ऐसा माननेवाला जीव बिल्कुल झूठ बोलता है क्योंकि शरीर, वाणी इत्यादि पदार्थ अपने नहीं हैं और न आत्मा स्वयं उनका कर्ता है। तथापि मैं उन पदार्थों का कर्ता हूँ — ऐसा वह असत्य मानता है और इसी प्रकार जगत के अनन्त परद्रव्यों को वह अपना मानता है, इस कारण उसके मिथ्यात्वरूप महान असत्य का सेवन है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि 'मुनियों को मौन रहना चाहिए।'

उसका यथार्थ अर्थ यह है कि मुनियों को वाणी की ओर का लक्ष्य छोड़कर आत्मा में एकाग्र रहना चाहिए। वाणी को रोकने की क्रिया आत्मा की नहीं है किन्तु जब आत्मा बोलने के विकल्प को तोड़कर, वीतरागभाव से आत्मा के अनुभव में लीन होता है, तब बाह्य में वाणी नहीं बोली जाती — ऐसा परमाणुओं का स्वतन्त्र परिणमन होता है। 'मौन रहना', यह तो 'घी का घड़ा' कहने की भाँति उपचार कथन है। वास्तव में भाषा करना या उसे रोकना, चेतन के आधीन नहीं है। मैं धर्मोपदेश करूँ, स्वाध्याय करूँ — इस प्रकार का शुभविकल्प मुनि को होता है और परम सत्य उपदेश भी होता है परन्तु उस समय सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छेदकर जितना वीतरागभाव है, वही धर्म है; जो शुभराग है, उसे मुनि धर्म नहीं मानते और वे उसका आदर भी नहीं करते; इसलिए उनके उत्तम सत्यधर्म है। जहाँ राग को आदरणीय माना जाए, वहाँ तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता और उत्तम सत्यधर्म तो सम्यक्चारित्र का भेद है, इसलिए वह तो होगा ही कहाँ से ?

मेरे शुभराग से या वाणी से मुझे या अन्य को लाभ होता है अथवा मैं निमित्त बनकर दूसरे को समझा देता हूँ — ऐसा जिसका अभिप्राय है, वह जीव महा असत्य अभिप्राय का सेवन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। शुभराग या व्यवहार पञ्च महाव्रतों का पालन करते-करते धर्म होता है — ऐसा उपदेश अथवा निमित्त से दूसरे का कार्य होता है, पुण्य से धर्म होता है — इस प्रकार का उपदेश देनेवाले जीव असत्य वक्ता और मिथ्यादृष्टि है। यहाँ उन जीवों की बात नहीं है। यहाँ पर तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक, सम्यक्चारित्रदशा प्रगट करके जो मुनि हुए हैं और केवलज्ञान प्रगट करने को योग्यतावाले

हैं — ऐसे मुनिवरों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि 'अहो मुनिवरों! तुम्हें स्वरूप स्थिरता में लीन रहकर सम्पूर्ण वीतरागता ही प्रगट करने योग्य है। मुनियों को किसी प्रकार का शुभराग करना भी योग्य नहीं है। सत्यवाणी की ओर की आकाँक्षा की नष्ट करके, परम सत्य आत्मस्वभाव में स्थिर रहकर केवलज्ञान प्रगट करना योग्य है।'

श्री आचार्यदेव उत्तम सत्यधर्म की महिमा बतलाते हैं —

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते,
भवत्याराधिता सद्भिःर्जगत्पूज्या च भारती॥ ९२॥

जो जीव सत्य वचन बोलनेवाला है, उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं अर्थात् सत्यव्रत का पालन करने से समस्त व्रतों का पालन होता है और वह सत्यवादी पुरुष जगत पूज्य सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है।

शास्त्रों में ऐसी कथनशैली होती है कि जब जिसका वर्णन होता है, उसे मुख्य करते हैं और दूसरे को गौण रखते हैं। यहाँ सत्यव्रत का वर्णन करना है, इसलिए उसे मुख्य करके कहा है कि एक सत्यव्रत के पालन में समस्त व्रतों का समावेश हो जाता है। जब ब्रह्मचर्य का वर्णन करना हो, तब ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मचर्य व्रत में समस्त व्रत समा जाते हैं; वैसे ही जब अहिंसा का वर्णन हो रहा हो, तब ऐसा कहते हैं कि अहिंसा के पालन में ही सम्पूर्ण व्रत आ जाते हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि भेद व्यवहार धर्म की अपेक्षा से हैं; परमार्थ से तो मात्र वीतरागभाव में ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्म आ जाते हैं।

सत्य-असत्य वचन की ओर का शुभ या अशुभ विकल्प भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। सत्य-असत्य वचन तथा उस ओर का शुभ-अशुभराग इन दोनों से भिन्न रहकर आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय के बिना यथार्थ सत्यव्रत नहीं हो सकता। शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा के पश्चात् चारित्रदशा में बढ़ने पर जो सत्य व्रतादि के विकल्प आते हैं, उन्हें उपचार से, व्यवहार से, निमित्त से उत्तम सत्यधर्म कहते हैं। परमार्थ से तो जो सत्य वचन की ओर का राग भी छोड़कर वीतरागभाव हुआ, वही उत्तम सत्यधर्म है। वह वीतरागभाव ही उत्तम अहिंसा है, वही ब्रह्मचर्यादि है और वही वीतरागभाव मोक्षमार्ग है — ऐसा वीतरागभाव मुनिवरों के होता है। जो शुभराग होता है, वह भी वास्तव में असत्य है, हिंसा है। सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभावरूप उत्तम सत्यधर्म में अन्य समस्त धर्म आ जाते हैं। जो ऐसे उत्तम सत्य व्रत का पालन करते हैं, वे जगत पूज्य सरस्वती को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं और उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। सरस्वती अर्थात् केवलज्ञान और निमित्तरूप से कहा जाये तो दिव्यध्वनि सरस्वती है। भगवान की दिव्यध्वनि को सरस्वती, अम्बा इत्यादि भी कहते हैं।

जीव ने लौकिक सत्य बोलने के भाव तो अनन्त बार किये हैं किन्तु परमार्थ सत्य का स्वरूप नहीं समझा है। सच्चे ज्ञान से वस्तु स्वरूप का निश्चय किये बिना परमार्थ सत्य नहीं होता। अज्ञानी जो कुछ बोलता है, वह लौकिक सत्य भले हो किन्तु परमार्थ से तो वह असत्य ही है। परमार्थ सत्य तो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही हो सकता है। आत्मा के त्रैकालिक शुद्धस्वभाव को जानकर, उसमें विशेष स्थिरता के पुरुषार्थ द्वारा असत्य का अर्थात् शुभ-अशुभराग का अभाव ही

उत्तम सत्यधर्म है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के भी श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से उत्तम सत्यादि धर्म होते हैं।

आचार्यदेव उत्तम सत्यधर्म का विशेष माहात्म्य बतलाते हुए कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते
सद्भूपत्वसरत्वसंसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं फलम्।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां
यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते॥९३॥

हेय-उपादेय के विवेक की सूक्ष्मतायुक्त उपरोक्तानुसार उत्तम सत्यधर्म के स्वरूप को जानकर जो सत्यवादी मनुष्य हैं, वे परभव में श्रेष्ठ चक्रवर्ती तथा इन्द्रादि पद प्राप्त करते हैं और संसार-सरिता के पार को प्राप्त होते हैं — यह उसका मुख्य फल है। परभव की बात तो दूर रही किन्तु वे इसी भव में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश पाते हैं, वे सज्जन कहलाते हैं और सज्जन उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे उत्तम सत्यधर्म के फल का वर्णन किस प्रकार किया जाए? इसलिए मुमुक्षुओं को सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उत्तम सत्यधर्म का पालन करना चाहिए।

आत्मा का स्वभाव वीतराग ज्ञानमय है, वह पर की उपेक्षा करनेवाला है। पर की उपेक्षा किये बिना वीतरागभाव प्रगट नहीं होता और वीतरागभाव के बिना उत्तम सत्यादि धर्म नहीं होते। 'मैं पर का कर सकता हूँ, अथवा निमित्त हो तो कार्य होता है' — ऐसी जिनकी मान्यता है, वे जीव परपदार्थों की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख

नहीं हो सकेंगे। जो जीव पर से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर परम सत्य का अर्थात् आत्मस्वभाव का आराधन करते हैं, वे जीव वीतरागभाव के फल में मुक्ति पाते हैं और साधकदशा में जो राग रह जाता है, उसके फलस्वरूप इन्द्रादि पद प्राप्त होते हैं।

अज्ञानी चाहे जैसे सत्य का शुभराग करे तो भी उसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लोकोत्तर पद प्राप्त नहीं होते। ज्ञानियों को साधकदशा में वर्तनेवाले राग का निषेध है, इसलिए उनको इन्द्रादि पद के योग्य उच्च पुण्य बँध जाता है और इस लोक में भी ऐसे सम्यग्ज्ञानी - सत्यवादी को सज्जन पुरुष आदर की दृष्टि से देखते हैं तथा उनकी उज्ज्वल कीर्ति सर्वत्र फैलती है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह समस्त फल तो गौण हैं; उत्तम सत्यधर्म का मुख्य फल तो मोक्ष पद की प्राप्ति है। इसलिए सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिए अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र सत् है — ऐसा समझकर वस्तुस्वभाव की सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान प्रगट करना चाहिए और इस सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उत्तम क्षमादिभावरूप वीतरागधर्म का आराधन करना चाहिए।

इस प्रकार उत्तम सत्यधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

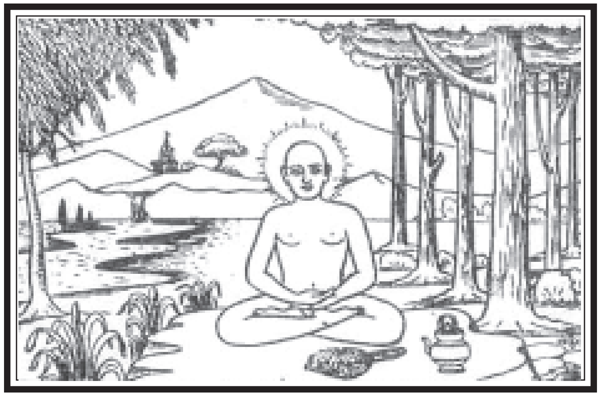

उत्तम शौचधर्म

उत्कृष्टरूप से लोभ के त्यागरूप निर्मल परिणाम ही उत्तम शौचधर्म है। जिन्होंने भेदज्ञान के द्वारा निज आत्मा को जगत् के समस्त पदार्थों से भिन्न जाना है; देह को भी अत्यन्त भिन्न जानकर, उसका ममत्व भी छोड़ दिया है और पवित्र चैतन्यतत्त्व की आराधना में तत्पर हैं - ऐसे मुनिवरों को किसी भी परद्रव्य के ग्रहण की लोभवृत्ति नहीं होती। वस्तुतः तो उन्होंने भेदज्ञानरुप पवित्र जल से मिथ्यात्वादि अशुचिता को धो दिया है, वे उत्तम शौचधर्म के आराधक हैं।

अहा! जगत के समस्त पदार्थों सम्बन्धी लोभ का परित्याग करके, मात्र चैतन्य को ही साधने में तत्पर शौचधर्मवन्त मुनिवरों को नमस्कार हो।

*हे सन्तों! हमें भी **उत्तम शौचधर्म** की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम शौचधर्म

आज दशलक्षण पर्व का पाँचवाँ दिन है, यह उत्तम शौचधर्म का दिन कहा जाता है। उत्तम शौच अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित पवित्रता अर्थात् निर्लोभता। यह दशों धर्म मुख्यतः मुनिदशा में होते हैं, गृहस्थों के गौणरूप से होते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका शास्त्र में शौचधर्म का वर्णन करते हैं —

(आर्या)

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः
दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत्॥ ९४॥

जो परस्त्री और परपदार्थों के प्रति निःस्पृह है, सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसक है और दुर्भेद्य जो अन्तर का मैल है, उसे जिसने धो डाला है — ऐसा पवित्र हृदय ही उत्तम शौचधर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई शौचधर्म नहीं है।

शौच अर्थात् पवित्रता। जिन्हें पवित्र आत्मा का भान नहीं है और जो देह को ही अपना मान रहे हैं — ऐसे अज्ञानी जीव, शरीर को पवित्र रखने को ही शौचधर्म मानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह शौचधर्म नहीं है। शरीर को अपना मानना तो महान अशुचि है। जिस आत्मा ने भेदज्ञानरूपी जल से उस मिथ्यामान्यतारूपी अशुचि को धो डाला है, वही आत्मा शौचधर्म है।

जिसे पवित्र चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है और पुण्य-पाप को

ही अपना कर्तव्य मानता है, मैं पर का कर्ता हूँ — ऐसा मानता है, वह जीव पर पदार्थों से निस्पृह नहीं हो सकता। जिसे पुण्य –पापरूप विकारी भावों की पकड़ है, उसका ज्ञान विकार से मलिन है। जो ऐसा मानता है कि पर का मैं करता हूँ, उसका ज्ञान मिथ्यात्वरूपी मैल से मलिन है। मुझे पर की सहायता है, निमित्त के आश्रय से धर्म होता है — ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव परपदार्थों में आसक्त है। जो जीव पर में आसक्त है, वह जीव महान अशुचि से लिप्त है। जिसने पुण्य में और उसके फल में सुख माना है, वह जीव वास्तव में स्त्रियों के प्रति निस्पृह नहीं है। जो पुण्य में आसक्त है, उसे उसके फल में भी आसक्ति है। वह जीव, स्त्री आदि पदार्थों के प्रति निस्पृह नहीं है और उसके शौचधर्म नहीं होता।

स्नानादि से शरीर को स्वच्छ रखना, शौचधर्म नहीं है। शरीर की शुद्धि से आत्मा का धर्म मानना मिथ्यात्व है और पुण्य–पाप के भावों से आत्मा की पवित्रता होती है — ऐसा माननेवाले को किञ्चित् भी धर्म नहीं होता किन्तु उल्टी मिथ्यात्वरूपी मैल की पुष्टि होती है।

शरीर से भिन्न और पुण्य–पाप से रहित पवित्र आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीतिरूपी जल द्वारा मिथ्यात्वरूपी मैल को धो डालना और पवित्र आत्मस्वरूप में एकाग्रता द्वारा रागादि मैल का धो डालना ही उत्तम शौचधर्म है। ऐसा धर्म मुनियों के होता है। जितना रागादि का विकल्प हो, वह तो अशुचि है। मुनिवरों की परिणति, स्त्री, लक्ष्मी आदि से बिल्कुल निस्पृह है। वे शुभ और अशुभ दोनों भावों को एक–सा मानते हैं, दोनों भाव अशुचिरूप हैं, आत्मस्वभाव से विपरीत अशुद्धभाव हैं। मुनियों को सहज ज्ञान की एकाग्रता से वे रागादि अशुद्धभाव होते ही नहीं हैं। रागादि –रहित वीतरागभाव ही उत्तम

शौचधर्म है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम शौचधर्म नहीं है।

सज्जन पुरुषों को परस्त्री सेवन का भाव होता ही नहीं किन्तु वास्तव में तो शुभभाव भी परस्त्री है। **शुभभाव से आत्मा को लाभ मानकर, शुभपरिणति का सङ्ग करना, वह परस्त्रीगमन है।** धर्मी जीव, उस शुभपरिणाम को अपना स्वरूप नहीं मानते और उसमें एकता नहीं करते; इसलिए श्रद्धा–ज्ञान की अपेक्षा से उनके भी उत्तम शौचधर्म है।

जो आत्मा में परभावों का ग्रहण करता है, वह परमार्थ से पराये धन का ग्रहण है। जिसे परभावों में ग्रहणबुद्धि है, वह जीव उसके फलस्वरूप लक्ष्मी आदि बाह्य संयोगों को भी अपना माने बिना नहीं रहता। मुनिजन ज्ञानानन्दस्वभाव के अनुभव की जागृति द्वारा परभावों की उत्पत्ति नहीं होने देते, इस कारण वे समस्त परपदार्थों और परभावों से निस्पृह हैं; परभावों से रहित उनकी पवित्र वीतरागी परिणति ही उत्तम शौचधर्म है।

बाह्य में स्नानादि करना, वह शौच नहीं है और पुण्य–परिणामों में भी आत्मा की शुचिता नहीं है। जिसे भेदना दुर्लभ है, ऐसी पुण्य–पापभावरूप मलिनता को आत्मा की पवित्रता के बल से जिसने भेद डाला है, उसके उत्तम शौचधर्म होता है।

स्नानादि से शुद्धता नहीं हो सकती — इस बात को आचार्यदेव स्पष्ट करते हैं —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

गंगासागरपुष्करदिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धिः परा।

मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकै-
धौंतं किं बहुशोऽपि शुद्ध्यति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ॥ ९५ ॥

गङ्गा नदी, समुद्र या पुष्करादि समस्त तीर्थों में सदैव स्नान करने से भी शरीर की मलिनता दूर नहीं होती। शरीर कभी पवित्र होता ही नहीं; स्वभाव से ही शरीर अशुचिरूप है। जिस प्रकार मदिरा से भरे हुए घड़े को अति स्वच्छ जल से अनेक बार धोया जाए तो भी वह स्वच्छ नहीं होता; उसी प्रकार जिसका चित्त मिथ्यात्व आदि मलिनभावों से भरा हुआ है, वह जीव बाह्य में शरीर को निर्मल जल से चाहे जितनी बार धोये किन्तु उसे पवित्रता नहीं होती।

जो जीव, पुण्य से आत्मा को लाभ मानता है, वह जीव अपने आत्मा में विकार का ही लेपन करके, आत्मा की मलिनता में वृद्धि करता है। पुण्यभावों से आत्मा की शुद्धि नहीं होती। पुण्य-पाप से रहित और शरीर से भिन्न, पवित्र आत्मस्वरूप की प्रतीति से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करना ही पवित्रता है और वही उत्तम शौचधर्म है। जो स्नानादि में धर्म मानते हैं, वे अपने आत्मा को मिथ्यात्व मल से मैला करते हैं। जिसके अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व भरा हुआ है, उस जीव के कभी भी पवित्रता नहीं हो सकती। इसलिए शरीर और पुण्य-पाप के भाव, इन सबको अशुचिरूप जानकर उनसे भिन्न परम पवित्र चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता द्वारा पवित्रभाव प्रगट करना ही उत्तम दश धर्मों की सच्ची उपासना है।

इस प्रकार उत्तम शौचधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

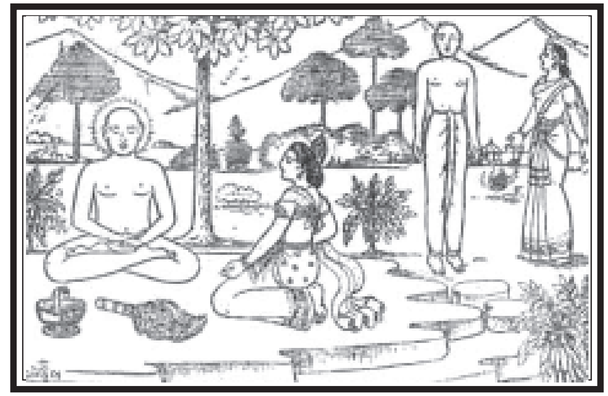

उत्तम संयमधर्म

जब भगवान रामचन्द्रजी मुनि होकर निजस्वरूप को साध रहे थे, तब यतीन्द्र हुए सीता के जीव ने उन्हें आत्मध्यान से डिगाने के लिए अनेक चेष्टाएँ की; परन्तु वे अपने उत्तम संयमधर्म की आराधना में दृढ़ रहे और केवलज्ञान प्रगट किया।

श्रावकोत्तम सुदर्शन सेठ ने प्राणान्त जैसा प्रसङ्ग बनने पर भी अपने संयम में दृढ़ रहे... और आगे बढ़कर, मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त किया।

जिनका उपयोग अन्तर्मुख होकर निज-स्वरूप में गुप्त हो गया - ऐसे मुनिवरों को स्वप्न में भी किसी जीव के घात की अथवा इन्द्रिय विषयों की वृत्ति नहीं होती। उन उत्तम संयमधर्म के आराधक मुनिवरों को नमस्कार हो।

*हे सन्तों! हमें भी **उत्तम संयमधर्म** की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम संयमधर्म

दशलक्षण पर्व में छठवाँ दिन उत्तम संयमधर्म का है। आत्म स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक, शुभाशुभ इच्छाओं को रोककर, आत्मा में एकाग्र होना, परमार्थ उत्तम संयमधर्म है और जब ऐसा वीतरागभाव न हो सके, तब सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छोड़कर छहकाय के जीवों की रक्षा का शुभराग होता है, उसे व्यवहार संयम कहते हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव यहाँ संयमधर्म का वर्णन करते हैं —

(आर्या)

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य
प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः ॥ ९६ ॥

जिनका चित्त जीवों की दया से भीगा हुआ है और जो समिति में प्रवर्तमान है तथा इन्द्रिय-विषयों का त्याग है — ऐसे मुनियों के संयमधर्म है, इस प्रकार महामुनि कहते हैं।

जिनके आत्मभानपूर्वक वीतरागभावरूप अकषायी करुणा प्रगट हुई है, उन्हें किसी प्राणी को दुःख देने का विकल्प ही नहीं होता; इसलिए ऐसा कहा जाता है कि उनका चित्त दयार्द्र है। वस्तुतः रागभाव सो हिंसा है, क्योंकि उसमें अपने आत्मा के चैतन्य-प्राणों का घात होता है, अतः उसमें स्वजीव की दया नहीं है। वीतरागभाव ही सच्ची दया है, क्योंकि उसमें स्व या पर किसी जीव की हिंसा का

भाव नहीं है। जिनका चित्त ऐसी वीतरागी दया से भरा है, उन मुनिवरों को उत्तम संयमधर्म है और सम्पूर्ण वीतरागभाव न हो तथा राग की वृत्ति उठे, उस समय पञ्च समिति में प्रवर्तनरूप शुभभाव होता है, उसे भी संयमधर्म कहते हैं। परमार्थ से तो वीतरागभाव ही धर्म है; राग है, वह धर्म नहीं है।

मुनि के इन्द्रिय-विषयों का अथवा जीवहिंसा का विकल्प तो होता ही नहीं, किन्तु देखकर चलना इत्यादि प्रकार के शुभविकल्प आयें, उन्हें भी तोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न वर्तता है। उन्होंने जितने अंश में विकल्प का अभाव किया, उतने ही अंश में वीतरागी संयमधर्म है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'अपूर्व अवसर' में कहते हैं कि —

'संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो,
निज आश्रय से, जिन आज्ञा अनुसार जब।
वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी,
होऊँ अन्त में निज स्वरूप में लीन जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥'

इसमें उन्होंने ऐसी भावना की है कि जब तक वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिर न हो सके, तब तक स्वरूप के लक्ष्य से और जिन आज्ञा के अनुसार संयम के हेतु से योग का प्रवर्तन हो। यहाँ पर जिन आज्ञा की ओर का लक्ष्य है, वह भी शुभभाव है। उस शुभभाव की भावना नहीं है किन्तु पर की ओर का वह विकल्प भी क्षण-क्षण में घटता जाये और क्रमशः उसका अभाव होकर सम्पूर्ण वीतरागभाव से आत्मस्वरूप में लीनता प्रगट होकर केवलज्ञान हो — ऐसी

भावना है। सर्व प्रथम ऐसे वीतरागभाव की पहिचान करना चाहिए। वीतरागभाव ही उत्तमधर्म है।

अब, आचार्यदेव संयम की दुर्लभता बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयः
तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः॥ ९७॥

इस संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्यत्व महादुर्लभ है। मनुष्यत्व में भी उत्तम जाति इत्यादि मिलना कठिन है। यदि उत्तम जाति मिले तो भी श्री अरिहन्त भगवानादि आप्त पुरुषों के वचन सुनने का सुयोग प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

यहाँ आचार्यदेव ने देशनालब्धि का नियम बताया है। जिस जीव को ज्ञानी पुरुष के पास से शुद्ध आत्मतत्त्व के उपदेश की प्राप्ति नहीं हुई, वह जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। इससे कहीं जीव की पराधीनता नहीं होती है। जिस जीव के शुद्धात्मस्वभाव को समझने की योग्यता हो, उस जीव को ज्ञानी से शुद्धात्मा का उपदेश मिलता ही है। ज्ञानी पुरुष के उपदेश की रुचि, बहुमान और विनयपूर्वक सुने बिना, मात्र शास्त्र वाँचकर अथवा अज्ञानी का उपदेश सुनकर कभी भी कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। जो जीव धर्म प्राप्त करता है, उसे या तो वर्तमान साक्षात् ज्ञानी की वाणी का योग होता है और कदाचित् वैसा योग न हो तो पूर्व में जो ज्ञानी का समागम किया हो, उसके संस्कार वर्तमान में स्मरण होते हैं।

जीव को ज्ञानी का उपदेश तो अनन्त बार मिला है किन्तु जिज्ञासापूर्वक सत् का श्रवण कभी नहीं किया; इसलिए परमार्थतः उसने सत् का श्रवण कभी भी किया ही नहीं। जिज्ञासापूर्वक सन्त पुरुषों की वाणी का श्रवण महादुर्लभ है। इतना होने तक भी धर्म नहीं है; इतना होने पर तो व्यवहारशुद्धि हुई कहलाती है अर्थात् उसमें धर्मी होने के लिए पात्रता प्रगट हुई कहलाती है। जिसमें इतना न हो, वह जीव तो धर्म प्राप्त कर ही नहीं सकता। जो कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र को मानते हैं, वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप जानकर, कुदेवादि की मान्यता को छोड़ देने पर गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है।

जिसे महाभाग्य से ज्ञानी के सच्चे धर्म का श्रवण प्राप्त हुआ है, उसे उसमें दृढ़ स्थित होना दुर्लभ है। ज्ञान में यथार्थ निर्णय करना, महादुर्लभ है। यदि सत् का श्रवण करे किन्तु निर्णय न करे तो यथार्थ फल नहीं मिलता। यहाँ तक आने के पश्चात् अब अपूर्व आत्मधर्म कैसे हो? उसकी बात करते हैं।

अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके, सत्धर्म का श्रवण प्राप्त करके और ज्ञान में उसका निर्णय करके शुद्धात्मा का अनुभव करना अपूर्व है। जो पहले अनन्त काल में कभी नहीं किया हो, ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करना, महान् पुरुषार्थ है। यहाँ से अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है। जिसने एक समयमात्र भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति की है, वह जीव अल्पकाल में अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति परम पुरुषार्थ द्वारा करने के पश्चात् भी वीतरागी संयम की प्राप्ति सबसे दुर्लभ है।

यहाँ पर आचार्यदेव उत्कृष्ट बात बतलाना चाहते हैं। मोक्ष का सीधा कारण वीतराग चारित्र है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान होने पर भी जब तक वीतरागी संयमदशा प्रगट न करे, तब तक केवलज्ञान प्रगट नहीं होता; इसलिए वीतरागी संयमधर्म परम प्रशंसनीय है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान को गौणरूप से मोक्षमार्ग कहा जाता है।

प्रवचनसार की सातवीं गाथा में कहा है कि '**चारित्तं खलु धम्मो**' अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र ही धर्म है। चारित्रदशा के बिना उस भव में मोक्ष होता ही नहीं। आचार्यदेव के चारित्रदशा विद्यमान है, उन्हें प्रचुर वीतरागभाव प्रगट हुआ है किन्तु वे ऐसे चारित्र की भावना करते हैं कि उत्कृष्ट वीतरागी संयम प्रगट होकर, उसी भव में केवलज्ञान प्रगट हो जाए। इस काल में साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति करा दे — ऐसे उत्कृष्ट चारित्र का पुरुषार्थ नहीं है। श्रद्धा की अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान से ही वीतरागभाव है; ऐसी सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना, अत्यन्त प्रशंसनीय है। भावसंयम के बिना उच्च स्वर्गपद अथवा मोक्षपद की प्राप्ति नहीं होती। यदि वीतरागी संयमदशा प्रगट न कर सके तो उसकी प्रतीतिपूर्वक निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को स्थिर रखना चाहिए। सम्यग्दर्शन–ज्ञान भी धर्म की आराधना है और वह गृहस्थ भी कर सकते हैं।

'जो चारित्र है, सो धर्म है' — ऐसा कहा है, वह कौन सा चारित्र? लोग घरबार छोड़कर, कपड़े बदलकर निकल जाते हैं, वह कहीं चारित्र नहीं है। किसी प्रकार का वेष धारण करना अथवा वस्त्रों का परित्याग करना, उसमें कोई चारित्र नहीं है। शुभराग भी

चारित्र नहीं है किन्तु शरीर और विकार से भिन्न, निज आत्मस्वभाव का अनुभव करके, उस स्वभाव में विचरना ही चारित्र है। वह चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है और वही मुक्ति का कारण है।

जिस जीव को ज्ञानी पुरुषों के द्वारा सत्धर्म का श्रवण ही प्राप्त नहीं हुआ, उसके यथार्थ संयम नहीं होता। जिसने सच्चे देव–गुरु की पहिचान करके गृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग नहीं किया — ऐसा जीव, यदि बाह्य में दिगम्बर त्यागी भी हो जाए, तब भी उसे द्रव्यलिङ्गी भी नहीं कहा जाता क्योंकि द्रव्यलिङ्ग तो उस समय कहा जाता है, जबकि गृहीत मिथ्यात्व का अभाव करके व्यवहार पञ्च महाव्रत का यथार्थ रीति से पालन करता हो। यह द्रव्यलिङ्ग भी धर्म नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीवों को साधुरूप से मानने में तो गृहीत मिथ्यात्व ही है। सच्चा गुरु कैसा होता है, इसका भी उसे विवेक नहीं है। निमित्तरूप से भी जिसने कुगुरु–अज्ञानी को स्वीकार किया है, वह जीव स्वयं अज्ञानी अर्थात् गृहीत मिथ्यादृष्टि है। ऐसा जीव, कितना ही शुभभाव करे तो भी वह आठवें स्वर्ग के ऊपर जा सके, वैसे शुभभाव उसके नहीं होते क्योंकि जिसने निमित्तरूप से ही कषाययुक्त देव–गुरु–शास्त्र को स्वीकार किया है, उसे अपने भावों में उतनी कषाय की मन्दता करने की शक्ति ही नहीं है कि वह आठवें स्वर्गलोक से ऊपर जा सके।

जिसने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके निर्दोष अकषायी अर्थात् वीतरागी देव–गुरु–शास्त्र को माना है, उस जीव के इतनी कषाय की मन्दता हो सकती है कि वह नौवें ग्रैवेयक तक जा सकता है। जिसने यथार्थ निमित्तों को नहीं जाना, उस जीव के व्यवहार सम्यग्दर्शन भी

नहीं होता तथा व्यवहार चारित्र भी नहीं होता। वह गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव यदि नग्न-दिगम्बर हो जाए, तब भी उसके द्रव्यलिङ्ग भी यथार्थ नहीं है तो फिर संयमधर्म कैसा? वह तो मिथ्यादृष्टि है।

सामान्यरूप से धर्म में जीव का माप करने की एक यह रीति है कि जिसे धर्मी जीव का साक्षात् उपदेश न मिला हो, अथवा पूर्वभव के धर्म श्रवण के संस्कार भी जागृत न हुए हों, उस जीव को धर्म नहीं होता। यदि कोई जीव ऐसा मानता है कि मुझे धर्म प्राप्त हुआ है तो यह निश्चित् करना चाहिए कि तू किस ज्ञानी धर्मात्मा के पास से धर्म को समझा है? तुझे किस ज्ञानी का समागम हुआ है? क्या तू अपने आप स्वच्छन्दता से धर्म समझा है? स्वच्छन्दता से धर्म नहीं समझा जा सकता; न अज्ञानी जीव से धर्म समझा जा सकता है; अपने आप शास्त्र वाँचने से भी धर्म नहीं समझा जा सकता। धर्मी जीव से ही धर्म समझा जा सकता है। जो जीव अपने में धर्म समझने की पात्रता प्रगट करता है, उस जीव को धर्मी का ही उपदेश निमित्तरूप होता है — ऐसा नियम है। यद्यपि निमित्त कुछ करता नहीं है किन्तु धर्म प्राप्त करने में धर्मी जीव का ही निमित्त होता है; अधर्मी का निमित्त नहीं होता — ऐसा मेल है। इसलिए मुमुक्षु जीवों को सत्-असत् निमित्तों की पहिचान करना चाहिए।

पहले सत्समागम द्वारा आत्मा की पहिचान करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करने के पश्चात् ही वीतरागभावरूप उत्तम संयमधर्म होता है। उत्तम क्षमादि दश धर्मों के यथार्थ स्वरूप को पहिचानना चाहिए, उनके मूलस्वरूप को जाने बिना, मात्र रूढ़ि प्रमाण से बोलने अथवा शास्त्र वाँचने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता।

भाई! तू दशलक्षण धर्म का स्वरूप जाने बिना, उस धर्म का उद्यापन किस प्रकार करेगा? दशलक्षण धर्म का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही जानकर, अपने आत्मा में जितने अंश में वैसा वीतरागभाव प्रगट करे, उतने अंश में वास्तविक दशलक्षण पर्व का अपने आत्मा में उद्यापन किया है। जो धर्म के मूल स्वरूप को नहीं जानता और मात्र राग को ही धर्म मानता है, उसने वास्तविक धर्म के पर्व का उद्यापन नहीं किया किन्तु मिथ्यात्व का ही पोषण किया है। इसलिए सत्समागम द्वारा धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर, ऐसी मिथ्या-मान्यताओं को छोड़ना चाहिए।

इस प्रकार उत्तम संयमधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

तत्त्व ज्ञान से रहित.....

तत्काल प्राणों को हरनेवाला विष खा लेना अच्छा, भयङ्कररूप से सुलगती हुई अग्नि में प्रवेश करके जलकर राख हो जाना अच्छा और अन्य किसी कारण द्वारा यमराज की गोद में समा जाना अच्छा, परन्तु तत्त्वज्ञान से रहित होकर इस संसार में जीना अच्छा नहीं है।

- श्री सुभाषितरत्नसन्दोह

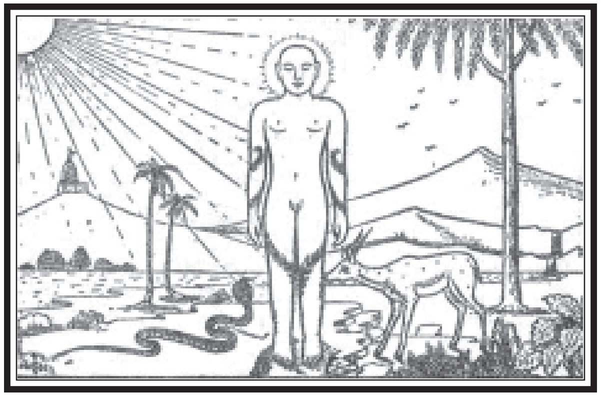

उत्तम तपधर्म

चैतन्य के ध्यान में लीन बाहुबली मुनिराज ने एक वर्ष तक गर्मी-सर्दी और वर्षा में अविचलरूप से उपसर्ग सहन किये, चैतन्य के उग्र प्रतपन द्वारा विकार का अभाव करके केवलज्ञान प्रगट किया।

शत्रुञ्जयगिरि पर ध्यानस्थ पाण्डव मुनि भगवन्तों पर तप्तायमान अग्नि का उपसर्ग होने पर भी, वे अपने उत्तम ध्यानरूपी तप से विचलित नहीं हुए।

घोर उपसर्ग होने पर भी पार्श्वनाथ प्रभु निजस्वरूप के ध्यानरूप तप से विचलित नहीं हुए। न तो उन्होंने धरणेन्द्र के प्रति राग किया और न कमठ के प्रति द्वेष किया। वीतरागी रहकर केवलज्ञान प्रगट किया।

इस प्रकार स्वसन्मुख उपयोगरूप उग्र प्रतपन द्वारा कर्मों का अभाव करनेवाले उत्तम तपधर्म के आराधक सन्तों को नमस्कार हो।

*हे सन्तों! हमें भी **उत्तम तपधर्म** की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम तपधर्म

आज उत्तम तपधर्म का दिन है। भादव सुदी पञ्चमी को दिन 'उत्तम क्षमाधर्म' कहा जाता है और एकादशी के दिन 'उत्तम तपधर्म' कहलाता है किन्तु उससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पञ्चमी के दिन उत्तम क्षमा के अतिरिक्त दूसरे धर्म होते ही नहीं हैं और एकादशी के दिन मात्र तपधर्म ही होता है। वास्तव में तो आत्मा के वीतरागीभाव में उत्तम क्षमादि दशों धर्म एक ही साथ हैं। पहले दिन पहला धर्म और दूसरे दिन दूसरा धर्म — ऐसा नहीं है परन्तु एक ही साथ दशों धर्मों का व्याख्यान न हो सकने के कारण क्रमशः एक-एक धर्म का व्याख्यान करने की पद्धति है। पञ्चमी-छठ इत्यादि दिन तो काल की अवस्था है — जड़ है, उसमें कहीं उत्तम क्षमादि धर्म नहीं भरे हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के वीतरागभाव में उत्तम क्षमादि धर्म विद्यमान हैं।

जिसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है, उसके उत्तम क्षमादि एक भी धर्म नहीं होता। उत्तम क्षमादि धर्म, सम्यक्चारित्र भेद हैं। मुख्यतः ये धर्म मुनिदशा में होते हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्य उत्तम तपधर्म का वर्णन करते हैं —

(आर्या)

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम्॥ ९८॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसहित जो उत्तम तप है, वह संसार समुद्र से पार होने के लिए जहाज के समान है। सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से वस्तुस्वरूप को जानकर उसमें लीन होने पर इच्छाएँ रुक जाती हैं — वह तपधर्म है; उससे कर्म का नाश होता है।

जिस भाव से शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, वह वास्तव में तप नहीं हैं किन्तु जिस भाव से ज्ञान-दर्शन की शुद्धि प्रगट हो और कर्म का नाश हो, वह तप है। वह तप आत्मा का वीतरागी चारित्र है।

निश्चय से तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का तप है। उस निश्चयतप की पहिचानपूर्वक जहाँ पूर्ण वीतरागभाव न हो, वहाँ शुभरागरूप व्यवहारतप होता है। उस व्यवहारतप के सामान्यरूप से दो प्रकार हैं। एक बाह्यतप और दूसरा, अभ्यन्तरतप। तथा विशेषरूप से — (१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन, (६) कायक्लेश (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) व्युत्सर्ग, (११) स्वाध्याय और (१२) ध्यान — ये बारह भेद हैं।

इनमें प्रथम छह प्रकार बाह्यतप के भेद हैं और अन्तिम छह प्रकार अभ्यन्तरतप के भेद हैं। यह ध्यान रहे कि यह समस्त प्रकार के तप, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही होते हैं। सम्यग्दर्शन बिना कायक्लेश, अनशन अथवा स्वाध्याय आदि करने को निश्चय अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार तप नहीं कहा जा सकता।

उत्तम तप सम्यक्चारित्र का भेद है; सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। आत्मस्वभाव में पुण्य या पापरूप कोई भी इच्छा

नहीं है। इच्छारहित निर्मल चैतन्यस्वरूप को जानकर, उसके अनाकुल आनन्द के अनुभव में लीन होने पर वीतरागभाव से आत्मा शोभित हो जाता है, इसका नाम तप है। ऐसा तप मुक्ति का कारण है।

तप की महिमा बतलाते हुए श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं —

(पृथ्वी)

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौधो हठात्
तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः।
अतो हि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम्॥ ९९॥

आचार्यदेव कहते हैं कि विषय-कषायरूपी उद्धत चोरों का समूह दुर्जय है तो भी तपरूपी योद्धा के पास उसका कुछ भी वश (जोर) नहीं चलता। यदि मुनिवर, वीतरागभाव द्वारा स्वरूप में स्थिर हों तो विषय-कषायरूपी चोरों का सहज ही नाश हो जाता है। यदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नों को साथ लेकर मोक्षमार्ग में चलनेवाले मुनियों के तपरूपी रक्षक साथ में न हो तो विषय-कषायरूपी चोर, उनकी लक्ष्मी को लूट लेते हैं। यदि अल्प राग भी रह जाये तो उससे रत्नत्रय सम्पत्ति लुटती है और मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् भी विषय-कषायों को जीतना दुर्लभ है किन्तु मुनिवर परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर जब स्वरूप में स्थिर होते हैं, उस समय वे विषय-कषाय क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले मुनियों से भगवान कहते हैं कि हे मुनियों! विषय-कषायरूपी चोरों से अपनी रत्नत्रयरूपी

लक्ष्मी को बचाने के लिए सम्यक्तपरूपी योद्धा को सदा साथ रखना। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मलक्ष्मी को साथ लेकर, मोक्ष की ओर गमन करते हुए स्वभाव की स्थिता के पुरुषार्थ को साथ रखने से, बीच में कोई विघ्न करने के लिए समर्थ नहीं है।

अब, आचार्यदेव तप के लिए प्रेरणा करते हैं —

(मन्दाक्रान्ता)

मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो
जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात्।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलं कृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात्॥ १००॥

यदि कोई जीव उत्तम तपधर्म में निरुत्साही होता हो और खेद से दुःखी होता हो और उससे तप को ही दुःखरूप मानकर उसे छोड़ रहा हो तो उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जैसे समुद्र के पानी के पास पानी के बिन्दुओं की गिनती नहीं है, वैसे ही सम्यक् तप के अनादर से मिथ्यात्व को लेकर जो अनन्त दुःख होगा, उसकी तुलना में तप के दुःख की कोई गिनती नहीं है।

तप है, वह चारित्रधर्म है और परम आनन्द का कारण है; वह किञ्चित् भी दुःख का कारण नहीं है किन्तु उसके साथ जो राग रह जाता है, उसका अल्प दुःख है — ऐसा जानना चाहिए। यहाँ तो जिसे चारित्रदशा में अल्प दुःख होता है और निरुत्साही बन जाता है — उसे समझाने के लिए कहते हैं कि हे जीव! इस तप में तो तुझे बहुत ही अल्प दुःख है और मिथ्यात्व-अव्रत आदि के सेवन से नरक में जाएगा, वहाँ तो अनन्त दुःख है तथा अनन्त प्रतिकूलता है। तथापि तू तप से भयभीत क्यों होता है? अहो! सादि-अनन्त परमानन्द

के कारणभूत उत्तम तप के धारण करने में तुझे क्या हानि है? सम्यक् तप का पालन करते हुए बाह्य में प्रतिकूलता आए, उससे दुःखी मत हो! सम्यक् तप तुझे किञ्चित् भी दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोक्षदशा के परम सुख का कारण है।

उत्तम तप तो वीतरागभाव है और वीतरागभाव में दुःख नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव के आचरण दुःखरूप हैं — ऐसा होने पर भी यहाँ धर्मात्मा मुनि के उत्तम तप में अल्प दुःख क्यों कहा? उसका कारण यह है कि किसी मन्द पुरुषार्थी जीव को प्रतिकूलता इत्यादि के प्रति लक्ष्य जाने पर खेद होता हो और कठिन मालूम पड़ता हो, इससे किञ्चित् असन्तोष हो जाता हो तो उसे असन्तोष के कारण किञ्चित् दुःख होता है। इस अपेक्षा से-उपचार से तप में अल्प दुःख होता है। वहाँ वास्तव में तप का दुःख नहीं किन्तु खेद का दुःख है। खेदभाव तप नहीं है और तप में खेद नहीं है। अल्प क्लेश को मुख्य करके रत्नत्रयसहित उत्तम तपधर्म में उत्साह को हीन करना ठीक नहीं है।

धर्मात्मा जीव मुनिदशा में छट्ठे-सातवें गुणस्थान में रमण करते हों और सल्लेखना धारण की हो, तथापि किसी को अशक्ति के कारण किञ्चित् क्लेश हो जाए और पानी की वृत्ति उत्पन्न हो, फिर भी अन्तरङ्ग में भान है कि यह वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है। यह जो वृत्ति हुई, यह चारित्र का भाव नहीं; किन्तु दोष है। विशेष सहनशीलता नहीं है और दुःख होता है, उसका आरोप करके तप में अल्प दुःख कहा है तथा चारित्र स्थिर रखने के लिए कहा है कि इस समय किञ्चित् दुःख से डरकर यदि चारित्र का ही अनादर कर देगा तो मिथ्यात्व होगा और उसके फल में जो अनन्त-दुःख मिलेगा, उसे

तू कैसे सहन करेगा ? इस समय अल्प दु:ख सहन करेगा तो सम्यक् तप के फल में अनन्त मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

वास्तव में जो चारित्र को दु:ख का कारण मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो लोग उपवास को एवं चारित्र को दु:खदायक मानते हैं, उनके सम्यग्दर्शन भी नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके, उसके आनन्दानुभव में लीन हो जाने पर इच्छाओं का नाश हो जाना ही उत्तम तपधर्म है। यहाँ आचार्यदेव ऐसे तप के लिए प्रेरणा करते हैं।

इस प्रकार उत्तम तपधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

दोनों में संसार का दु:ख समान ही लगता है

दूसरों के दु:खों को सुनकर, बहुत बार सुननेवालों को वैराग्य हो जाता है परन्तु वह वैराग्य सच्चा नहीं है। जीव को दु:ख अप्रिय है; अत: दु:ख की बात सुनने में आने पर उदासीनभाव आ जाता है परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जिसको संसार में वास्तविक वैराग्य आ गया है; उसको तो चक्रवर्ती को ऋद्धि सुनने से हर्ष होता है। संसार से सच्चे विरक्तभाववाले को तो चक्रवर्ती की ऋद्धि का वर्णन हो या नारकी के दु:ख का वर्णन – दोनों में संसार का दु:ख समान ही लगता है। उसकी तरफ एक समान उदासीन भाव होता है। *- पूज्य गुरुदेवश्री*

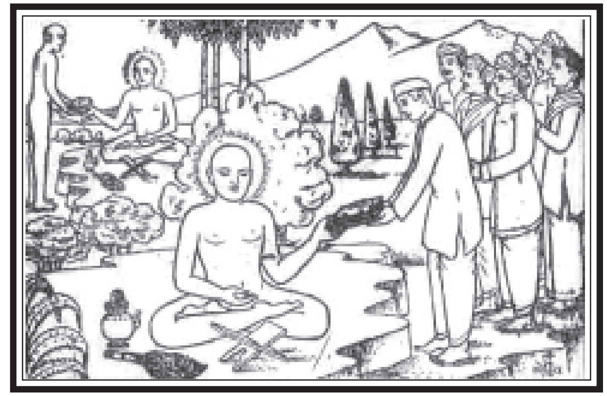

उत्तम त्यागधर्म

मैं शुद्ध चैतन्यमय आत्मा हूँ; देहादि कुछ भी मेरा नहीं है – इस प्रकार सर्वत्र ममत्व के त्यागरूप परिणाम द्वारा चैतन्य में लीन होकर मुनिराज उत्तम त्यागधर्म की आराधना करते हैं।

श्रुत का व्याख्यान करना, साधर्मियों को पुस्तक, स्थान अथवा संयम के साधन इत्यादि देना भी उत्तम त्यागधर्म का प्रकार है। कोई मुनिराज उत्तम नवीन शास्त्र पढ़ रहे हों और दूसरे मुनिराज में उस शास्त्र को पढ़ने की उत्कण्ठा देखें तो तुरन्त ही बहुमानपूर्वक वह शास्त्र उन्हें अर्पण कर देते हैं – यह भी उत्तम त्याग का एक प्रकार है।

सर्वत्र ममत्व का परित्याग करके, सर्व परभाव के त्यागस्वरूप ज्ञानस्वभाव की आराधना में तत्पर उत्तम त्यागी मुनिवरों को नमस्कार हो।

*हे सन्तों! हमें भी **उत्तम त्यागधर्म** की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम त्यागधर्म

दश धर्मों में आज उत्तम त्यागधर्म का दिन है। उसका वर्णन करते हुए आचार्य पद्मनन्दिदेव कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुरादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
राकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मःसतां सम्मतः॥ १०१॥

सम्यक् प्रकार से श्रुत का व्याख्यान करना और मुनि इत्यादि को पुस्तक, स्थान तथा पिच्छी-कमण्डलादि संयम के साधन देना — वह धर्मात्माओं का उत्तम त्यागधर्म है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है' — ऐसे सम्यग्ज्ञानपूर्वक, अत्यन्त निकट शरीर में भी ममत्व का त्याग करके, शुद्धस्वरूप में रमणता प्रकट करने पर मुनियों को सर्व परभावों का त्याग हो जाता है। आत्मा के भानपूर्वक शरीरादि समस्त पदार्थों के ममत्व का त्याग किया, उसमें उत्तम आकिञ्चन्य धर्म भी आ जाता है। इस प्रकार आचार्यदेव ने एक ही श्लोक में दो धर्मों का वर्णन किया है।

आत्मा के भानपूर्वक मुनिदशा प्रवर्तमान हो किन्तु अभी स्वरूप में पूर्ण स्थिरता नहीं होती हो और विकल्प उठे, उस समय मुनिगण श्रुत की — शास्त्र की यथार्थ रीति से व्याख्या करते हैं, उसे यहाँ

त्यागधर्म कहा है। वास्तव में शास्त्र वाँचने की क्रिया को या राग को धर्म नहीं कहा किन्तु उस समय अन्तरङ्ग में वीतराग स्वभाव का मन्थन होने पर जो राग का त्याग होता है, वही उत्तम त्याग है। श्रुत की व्याख्या करते समय वाणी या विकल्प हो, वह धर्म नहीं है। श्रुत का रहस्य तो आत्मस्वभाव है। वीतरागभाव ही सर्वश्रुत का प्रयोजन है। विकल्प होने पर भी, उस समय वीतरागी ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यक्श्रुत की वृद्धि होती है और राग का अभाव होता जाता है — यही धर्म है।

वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा व्याख्यान करते हुए अर्थात् आत्मस्वभाव में विपरीतता न हो इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान का मनन करने पर, मुनियों के उत्तम त्यागधर्म होता है। गृहस्थों के भी आत्मस्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का मनन-स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग नष्ट होता जाता है, इससे उनके भी उतने अंश में त्यागधर्म है। मिथ्यादृष्टि के तो मात्र अधर्म ही होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही साधक जीव के वीतरागभाव हुआ है, उतना वास्तव में धर्म है और जो शुभराग रहा, वह वास्तविक धर्म तो नहीं है किन्तु धर्मात्मा जीव के उस राग का निषेध विद्यमान है, इसलिए उपचार से उसको धर्म कहा जाता है।

श्रुत की व्याख्या के शब्द आत्मा के नहीं हैं। आत्मा शब्दों का कर्ता नहीं है और जो शुभराग होता है, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। — ऐसी प्रतीतिपूर्वक शुद्धस्वभाव के अनुभव में लीन न रह सकें, तब धर्मात्मा जीवों को श्रुत के व्याख्यान आदि का शुभराग होता है। उस समय अशुभराग नहीं होता — इन अपेक्षा से वह

व्यवहार से त्याग है और ज्ञान का ज्ञान में जितना मनन होता है, उतना परमार्थत्याग है।

परमार्थ से तो जो श्रुतज्ञान है, वह आत्मा ही है; इसलिए आत्मस्वभाव का मनन रहे, वही निश्चय से श्रुत की व्याख्या है और यही उत्तम त्यागधर्म है। त्याग के नव प्रकार या उनचास प्रकार तो व्यवहार से हैं। शुभराग के समय किस-किस प्रकार के निमित्त होते हैं और राग का नाश करके ज्ञायकस्वभाव में लीनता होने पर कैसे-कैसे प्रकार के निमित्तों से लक्ष्य छूट जाता है — यह बताने के लिए बाह्य भेदों से त्याग का वर्णन है। जो जीव मूलभूत वस्तुस्वरूप को नहीं समझते, वे भङ्ग-भेद के कथन में अटक जाते हैं।

प्रश्न — आत्मा, वचन तो बोल नहीं सकता, फिर वहाँ मुनिजन श्रुत की व्याख्या करते हैं — ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर — उपदेश में तो निमित्त की अपेक्षा से कथन होता है किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, ऐसा भेदज्ञान रखकर ही उसका अर्थ समझना चाहिए। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव रागरहित है; जो राग है, वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान और राग भिन्न हैं, राग के कारण वचन बोलने की क्रिया नहीं होती। बाह्य वचन तो निमित्तमात्र हैं और उन वचनों की ओर का राग भी यथार्थ त्यागधर्म नहीं है किन्तु उस समय स्वभाव के आश्रय से जो ज्ञानसामर्थ्य बढ़ती जाती है, वही त्याग है। वहाँ राग का त्याग हो जाता है। यथार्थ भेदविज्ञान के बिना धर्माराधन नहीं हो सकता और सच्चा क्षमाभाव भी नहीं होता। मिथ्यात्व ही सबसे महान क्रोध है, सम्यग्दर्शन के द्वारा उस मिथ्यात्व को नष्ट किये बिना क्षमाधर्म प्रगट नहीं होता।

अनादिकाल से अज्ञानभाव के कारण अपने आत्मस्वभाव पर

स्वयं ही क्रोध किया है, वह क्रोध दूर होकर क्षमा किस प्रकार हो? उसकी बात कही जाती है। क्षमा हो आत्मस्वभाव को! अर्थात् पुण्य-पापरहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके वीतरागभाव प्रगट करूँ और राग के एक अंश से भी स्वभाव को खण्डित नहीं करूँ — इसका नाम यथार्थ क्षमा है। जितना राग हो, उतना अपराध है और जो राग को आत्मा का स्वभाव मानता है, वह तो आत्मस्वभाव पर अपार क्रोध करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

धर्म-ग्रन्थ आदि के दान करने को गृहस्थ का त्यागधर्म कहा गया है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धर्मात्मा जानता है कि बाह्य में पुस्तकादि लेने-देने की क्रिया आत्मा की नहीं है और अन्तरङ्ग में 'वीतराग शासन जयवन्त रहें, साधक-धर्मात्मा विद्यमान रहें और सम्यक्श्रुत ज्ञान की वृद्धि हो' - ऐसी भावनारूप विकल्प भी राग है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अन्तरङ्ग में परिपूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो ज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग दूर होता है, वह त्याग है और वही धर्म है। परमार्थ से तो ज्ञान-ज्ञान में स्थित हुआ, वही त्याग है। आत्मा ने राग को छोड़ दिया — यह भी उपचार कथन है। पर्याय में राग था और उसे छोड़ा, यह कथन व्यवहारनय का — पर्याय अपेक्षा का है। स्वभाव से न तो आत्मा ने राग किया है और न उसे छोड़ा ही है। राग, आत्मा के स्वभाव में था ही नहीं, तब फिर उसका त्याग किस प्रकार कहा जाए? राग तो पर्यायदृष्टि में था, जहाँ पर्यायदृष्टि ही दूर हो गयी और स्वभावदृष्टि हुई, वहाँ राग है ही नहीं; इसलिए आत्मा को राग का त्याग करनेवाला कहना, उपचार कथन है।

दूसरे बात यह भी है कि जिस समय राग होता है, उस समय तो

उसका त्याग नहीं होता किन्तु आत्मा जब स्वभाव में एकाग्र रहता है, तब राग की उत्पत्ति ही नहीं होती; इसी को 'राग का त्याग किया' कहा जाता है। स्वभाव की लीनता में रहते हुए राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई, इसी का नाम राग का त्याग है।

त्रैकालिक आत्मस्वभाव तो रागरहित ही है — ऐसी श्रद्धा होने पर, श्रद्धा में से समस्त राग का त्याग तो हो ही गया। रागरहित त्रैकालिक स्वभाव के अनुभव बिना पर्याय में से राग का त्याग नहीं हो सकता। जो राग को अपना स्वरूप मानता है, वह जीव राग का त्याग कर ही नहीं सकता।

श्री समयसार गाथा ३४ में ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, ज्ञानरूप में परिणमित हो गया और रागादिरूप परिणमित नहीं हुआ, वही त्याग है। आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व तो नाममात्र है, आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, पश्चात् परभावों का ग्रहण नहीं हुआ, वही त्याग है। इस प्रकार स्वरूप में स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, — यह निश्चय से त्याग का स्वरूप है। ज्ञानस्वभाव में स्थिर होने पर राग उत्पन्न ही नहीं होता; इसलिए वह ज्ञान स्वयं ही राग के त्यागस्वरूप है। आत्मा ने राग का त्याग कर दिया — यह कहना भी व्यवहार है।

यहाँ पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में तो कहा है कि मुनियों को पिच्छी-कमण्डल, शास्त्रादि देना, वह उत्तम त्याग है, सम्यक्श्रुत की व्याख्या करना भी उत्तम त्याग है — यह व्याख्या व्यवहार से है। जब सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मस्वभाव में स्थिरता नहीं रहती, उस समय किस प्रकार का शुभराग होता है, वह यहाँ बतलाया है और उस राग के समय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र विद्यमान है, उनका

उपचार करके, शुभराग को त्यागधर्म कहा है। वास्तव में तो अन्तरङ्ग में ज्ञान का मन्थन होने पर वीतरागभाव की वृद्धि होती है, वही त्याग है।

जो यह मानता है कि पुस्तक देने-लेने की अथवा बोलने की क्रिया का कर्ता वास्तव में आत्मा है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसके पर कर्तत्त्व का मिथ्या अहङ्कार है; इसलिए उसके सच्चा त्याग नहीं होता। ज्ञानियों को स्वभाव के बहुमान के बल से ज्ञान की एकाग्रता में वृद्धि हुई, इसलिए उस समय बाह्य में होनेवाली शास्त्रादि लेने - देने की क्रिया में उपचार करके, उनके त्यागधर्म कहा है। बाह्यक्रिया के समय एवं राग के समय ज्ञानी का अन्तरङ्ग अभिप्राय क्या है? — वह समझना चाहिए। यदि राग से भिन्न आत्मा के ज्ञानस्वभाव का विश्वास करे तो ज्ञानी का अन्तरङ्ग-हृदय समझ में आ सकता है।

जो स्वयं रागादि के साथ ज्ञानस्वभाव को एकमेक मानता है, उसे ज्ञानी के हृदय की यथार्थ पहिचान नहीं होती। ज्ञानी का ज्ञान, राग से और जड़ की क्रिया से भिन्न है। लोगों की भाषा में तो बाह्य से ऐसा कहा जाता है कि यह लिया और यह दिया किन्तु ज्ञानी वास्तव में किसी भी बाह्य क्रिया में नहीं हैं, राग में भी नहीं है; ज्ञानी तो चैतन्यस्वभाव में ही हैं — आत्मा में ऐसा भेदज्ञान अपने करना ही समाधान है। यदि स्वतः भेदज्ञान करे तो यह जान सकता है कि ज्ञानी क्या करते हैं?

कोई ऐसा कहे कि यह तो दूसरों को निरुत्तर बनाने का साधन है — तो कहते हैं कि भाई! यह निरुत्तर करने के लिए नहीं है किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है। यहाँ तो ऐसा कहा है कि प्रथम तू अपने ज्ञान को राग से भिन्न जान अर्थात् तू स्वयं ज्ञानी हो तो तुझे ज्ञात होगा कि

ज्ञानी क्या करते हैं ? भाई ! ज्ञानी ज्ञानभाव ही करते हैं; जो राग होता है, उसे वे अपने स्वभावरूप से स्वीकार नहीं करते; इसलिए वे वास्तव में राग को ग्रहण नहीं करते किन्तु त्यागते हैं। ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना ही अनन्त काल के मिथ्यात्व को त्याग करने का उपाय है।

बाह्यदृष्टि जीव बाह्य के त्याग को देखते हैं किन्तु आत्मस्वभाव की यथार्थ पहिचान करने पर धर्मात्मा के मिथ्यात्व का ऐसा अपूर्व त्याग होता है कि जो अनन्त काल में भी नहीं हुआ हो; वे उसे नहीं देखते। ज्ञानी पर की क्रिया के कर्ता कभी होते ही नहीं, वे तो अपने ज्ञान का ही कार्य करते हैं। ज्ञानी, राग को धर्म नहीं मानते हैं। ज्ञान में स्थिर होने से राग का अभाव होता है, उसका नाम वास्तव में उत्तम त्यागधर्म है। अहो ! जैनशासन में ज्ञान और राग की भिन्नता स्पष्ट ही कही है किन्तु अज्ञानी उन्हें भिन्न नहीं देखें तो इससे क्या ?

यह दश धर्मों का कथन आत्मा की चारित्रदशा बतलाने के लिए है। चारित्रदशा, सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसे यह समझ में नहीं आयेगा कि चारित्रदशा कैसी होती है और शास्त्र में व्यवहार के कथनों का आशय भी वह नहीं समझ सकेगा।

यह सब धर्म, संवर के भेद हैं। मूलतः तो एक ही प्रकार का वीतरागभावरूप संवर है किन्तु राग के निमित्त से, उपचार से दश भेद कहे गये हैं। जितनी वीतरागता उतना ही धर्म है किन्तु किस प्रकार के विकल्प से हटकर वीतरागभाव में एकाग्र होता है ? अर्थात् वीतरागभाव के पूर्व किस प्रकार का विकल्प था, यह बतलाने के लिए ये दश भेद हैं। यदि क्षमा सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर

वीतरागस्वभाव में स्थिर हो तो उसे 'उत्तम क्षमाधर्म' कहा है; इसी तरह अनेक प्रकार से रागरहित आत्मा को समझकर, राग के अनेक प्रकारों को जानने से ज्ञान की दृढ़ता होती है।

रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक आराधना करते हुए बीच में प्रमाद होने से विकल्प उठते हैं, उस प्रमाद को दूर करके स्वभाव के अवलम्बन से विशेष स्थिरता करने को यहाँ पर उत्तम त्यागधर्म कहा है। ऐसा त्याग मुख्यतः सातवें गुणस्थान से होता है और उसका प्रारम्भ गौणरूप से चौथे गुणस्थान से होता है।

मुनिदशा में स्वभाव की एकाग्रता से अनन्तानुबन्धी आदि तीन प्रकार के कषाय का अभाव हो गया है, उतना त्याग तो सामान्यरूप से है ही, उसकी यहाँ पर बात नहीं है किन्तु मुनि को विकल्प उठने पर छट्ठा गुणस्थान आये, उस समय विशेष प्रमाद नहीं होने देना और उस विकल्प को तोड़कर वीतरागी एकाग्रता प्रगट करना — ऐसे विशेष त्याग के लिए यह बात है। जितनी दशा प्रगट हुई है, वहीं के वहीं प्रमाद में न रुककर, स्वरूपस्थिरता के बल से प्रमाद का परिहार करके आगे बढ़ने के लिए इन दश प्रकार के उत्तम धर्मों का उपदेश है। यहाँ पर बाह्य के त्याग की बात ही नहीं है, मुनि के बाह्य में समस्त परिग्रह का त्याग होता है — ऐसे बाह्यत्याग की बात नहीं है; अन्तरङ्ग में मुनि के अधिकांश विभाव दूर हो गया है, उतना त्यागधर्म तो प्रगट हुआ है किन्तु उसकी यहाँ बात नहीं है। मुनि को स्वरूपस्थिरतारूप चारित्रदशा प्रगटी होने पर भी, जो शुभविकल्प होते हैं, उन्हें दूर करके, विशेष ज्ञान-ध्यान में आगे बढ़ना, वह उत्तम त्यागधर्म है।

यद्यपि मुनियों के चारित्रदशा विद्यमान रहती है और बाह्याभ्यन्तर त्याग होता है — ऐसी बात त्यागधर्म के वर्णन में नहीं की है क्योंकि यहाँ पर तो जिन मुनियों को विकल्प उठता है, उनकी अपेक्षा से कथन है अर्थात् मुनिदशा में जो विकल्प उठता है, उसका त्याग करके, वीतरागभाव प्रगट करने की बात है। तथापि यहाँ निमित्त की अपेक्षा से कथन है; इसलिए कहा गया है कि मुनि, श्रुत का व्याख्यान करते हैं, वह उत्तम त्यागधर्म है। वास्तव में वाणी जड़ है, शास्त्र के शब्द जड़ हैं और व्याख्यान का विकल्प राग है, इनमें कहीं त्यागधर्म नहीं है किन्तु उस समय सम्यग्दर्शन –ज्ञानपूर्वक स्वभाव की भावना के बल से ज्ञान की एकाग्रता में वृद्धि होती है और राग नाश होता है, वही त्यागधर्म है।

यहाँ शास्त्र का व्याख्यान करने को उत्तम त्यागधर्म कहा है, उसका क्या आशय है ? उसका आशय यह है कि शास्त्र का प्रयोजन वीतरागभाव है। सर्व शास्त्रों के सारभूत शुद्धात्मा को पहिचानकर, वीतरागभाव प्रगट करना ही परमार्थ से श्रुत का व्याख्यान है और वही उत्तम त्यागधर्म है। मात्र शास्त्रों की व्याख्या तो अज्ञानी भी करते हैं, अभव्य जीव ग्यारह अङ्गों का पठन करके शास्त्रों का व्याख्यान करता है, तथापि उसके अंशमात्र भी त्यागधर्म नहीं होता; इसलिए मात्र शास्त्र की व्याख्या की बात नहीं है किन्तु शुद्धात्मा की भावना के बल से निश्चय चारित्रदशा की वृद्धि होती है और राग नष्ट होता है, वह धर्म है। शास्त्र के व्याख्यान की बात कहकर यहाँ बाह्य निमित्त से कथन किया है।

मुनिवरों को शास्त्रादि देने को भी त्यागधर्म कहा है। कोई मुनि नवीन शास्त्र पढ़ रहे हों और किसी अन्य मुनि में उस शास्त्र को पढ़ने की उत्कण्ठा हो तो उसी समय उसे पढ़ने के लिए दे देते हैं और स्वयं शास्त्र की ओर के विकल्प को तोड़कर स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं। इस प्रकार स्वभाव के बल से विकार की अस्वीकृति का नाम त्याग है। उसमें मुनि के चारित्रदशा की वृद्धि होती है।

मुनियों को शास्त्र पढ़ने का आग्रह नहीं है अर्थात् विकल्प की पकड़ नहीं है किन्तु वीतरागभाव की भावना है। मुनि, शास्त्र का स्वाध्याय कर रहे हों और दूसरे मुनि को वह शास्त्र देखकर हर्ष हो तो तुरन्त ही पहले मुनि वह शास्त्र उन्हें पढ़ने के लिए देते हैं। किन्तु 'इस नये शास्त्र में क्या विषय हैं, वे पहले मैं देख लूँ और पश्चात् उन्हें दूँ' — ऐसा आग्रह उन्हें नहीं होता क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन तो वीतरागभाव है और वे स्वयं भी शास्त्र की ओर का विकल्प तोड़ना ही चाहते हैं। इस कारण वे अन्तरङ्ग में स्वभाव के बल से पढ़ने की वृत्ति का वेग नष्ट कर देते हैं, उसका नाम उत्तम त्यागधर्म है।

श्रुत की प्रभावना हो अर्थात् वास्तव में तो अपने आत्मा में स्वभाव के आश्रय से राग को नष्ट करके ज्ञान की वृद्धि हो — ऐसे भाव से शास्त्र की ओर के विकल्प का नाश कर देते हैं, वह मुनि का उत्तम त्यागधर्म है। शास्त्र पढ़ने में भी ज्ञान की वृद्धि का और राग को कम करने का प्रयोजन था, वही प्रयोजन शास्त्र की वृत्ति को तोड़कर सिद्ध किया। वे मुनिराज तो स्वभाव में लीन होकर, शास्त्र के ओर की वृत्ति को तोड़कर अनन्त केवलज्ञान को निकट लाते हैं। गृहस्थों के भी स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक अपनी भूमिकानुसार उत्तम त्यागधर्म होता है।

इस प्रकार उत्तम त्यागधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

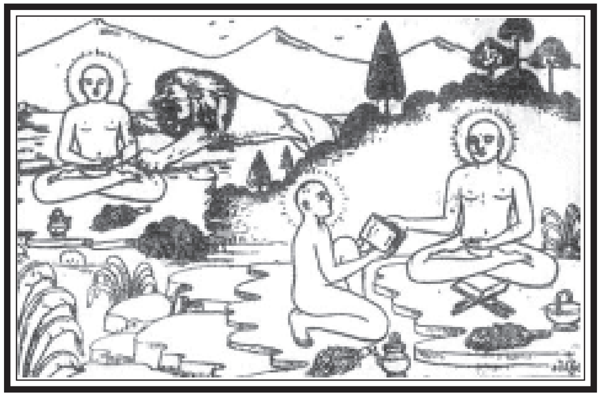

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म

भेदज्ञान के बल से सर्वत्र ममत्व का त्याग करके चैतन्यभावना में रत हुए मुनिराज, बिना संकोच अन्य मुनिराजों को भी शास्त्र के गहन रहस्यों का ज्ञान प्रदान करते हैं।

सिंह आकर शरीर को खा जाए तो भी देह के प्रति ममत्व नहीं करते। भरत चक्रवर्ती जैसे भी क्षणमात्र में छह खण्ड का वैभव छोड़कर ऐसी अकिञ्चन भावनारूप परिणमित हुए थे कि ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है।

इस प्रकार देहादि परद्रव्यों और समस्त रागादि परभावों में ममत्व का परित्याग करके जो अकिञ्चनभाव में तत्पर हैं, उन उत्तम अकिञ्चन्यधर्म के धारक मुनिवरों को नमस्कार हो।

हे सन्तों! हमें भी ***उत्तम आकिञ्चन्यधर्म*** *की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम आकिञ्चन्यधर्म

आज दशलक्षण पर्व का नौवाँ दिन है। आज का दिन उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का माना जाता है। आकिञ्चन्यधर्म का वर्णन करते हुए आचार्य श्री पद्मनन्दि कहते हैं —

(शिखरणी)

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता:
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरला:।
तपस्यंतोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददत:
सहाया: स्युर्ये ते जगति यतयो दुर्लभतरा:॥ १०२॥

जिनका मोह नष्ट हो गया है और अपने आत्महित में निरन्तर लीन हैं तथा पवित्र चारित्र को धारण करनेवाले हैं और जो गृहादि को त्यागकर मोक्ष के लिए तप कर रहें हैं — ऐसे मुनि विरले ही होते हैं। जो अपने हित के लिए तप कर रहे हैं तथा अन्य तपस्वी मुनियों को शास्त्रादिक दान करते हैं और उनके सहायक हैं – ऐसे योगीश्वर इस जगत में दुर्लभ हैं।

मुनियों के शास्त्र का अगाध ज्ञान हो तो भी उनको उसका ममत्व अथवा अभिमान नहीं होता। दूसरे मुनियों को ज्ञान का उपदेश देने में वे किञ्चित् भी संकोच नहीं करते, 'मैं अपना सारा रहस्य इससे कह दूँगा तो यह मुझसे आगे बढ़ जायेगा' — ऐसा ईर्ष्या भाव का विकल्प भी मुनि के नहीं होता। अन्य कोई अपने से आगे

बढ़कर, अपने से पूर्व केवलज्ञान प्राप्त करता हो तो उसमें उनकी अनुमोदना है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को भी ज्ञान, चारित्रादि गुणों में जो अपने से बढ़ा हुआ हो, उसके प्रति अनुमोदना और बहुमान होता है। विकल्प के समय यदि अधिक गुणवान के प्रति अनुमोदना न हो तो उस जीव को गुण की रुचि नहीं है।

मुनिजन अन्तरङ्ग में किञ्चित् भी छिपाये बिना, सरलता से पात्र जीव को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी वे अपना नहीं मानते। जिनके शरीर और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं — ऐसे उत्तम आकिञ्चन्यधर्म में रत मुनिगण, इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है। बारह अङ्ग का ज्ञान होने पर भी उसमें आसक्ति नहीं है। किसी समय किञ्चित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है, उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के अभिलाषी हैं — ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं।

मुनि उपदेशादि में किसी उच्च बात को अथवा महिमावन्त न्याय को छुपाते नहीं हैं। भाई! ज्ञानदान देने से कहीं ज्ञान कम रह जाता हो, ऐसा नहीं है किन्तु उल्टे अपने ज्ञानस्वभाव की भावना का मंथन करने से ज्ञान एकदम विकसित होता जाता है। जैसे लोक व्यवहार में भी जिसे अपने पुण्य का विश्वास होता है, वह जीव दान में लक्ष्मी आदि खर्च करने में सहज ही उदार होता है। दान में अधिक लक्ष्मी खर्च करने से मेरी लक्ष्मी घट जाएगी — ऐसी शङ्का उसे नहीं होती। वैसे ही लोकोत्तर मुनिवरों को भी अपने पुरुषार्थ की

प्रतीति है कि मेरे ज्ञान की वृद्धि ही है। वे मुनि दूसरों को शास्त्रज्ञान देने में किञ्चित् भी हिचकिचाहट नहीं करते।

यद्यपि जिन्हें उपदेश की वृत्ति में अटकने की भावना नहीं है किन्तु उस वृत्ति को तोड़कर स्वभाव में ही एकाग्र रहकर पूर्णज्ञान प्रगट करने की ही भावना है — ऐसे मुनिवरों के उत्तम आकिञ्चन्यधर्म होता है। आकिञ्चन्य अर्थात् परिग्रहरहितता। ममता ही परिग्रह है। ममतारहित वीतरागभाव ही उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है। भेदज्ञान द्वारा पर से भिन्न स्वभाव को जाने बिना, पर के प्रति ममत्व दूर नहीं होता और धर्म भी नहीं होता है।

श्री मुनियों के आकिञ्चन्यधर्म को विशेषरूप से समझाते हुए श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि —

(शिखरणी)

परं मत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञाभंगो भवति च हठात् कल्मषवृषेः ॥ १०३ ॥

श्रुत के रहस्य को जाननेवाले वीतरागी मुनियों ने समस्त पर वस्तुओं को अपने आत्मा से भिन्न जानकर, उनका त्याग कर दिया है; इससे उनके उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है। यदि कोई पूछे कि शरीर और पुस्तकादि तो निकट हैं — उनका त्याग क्यों नहीं किया? उसका उत्तर यह है कि वह भी त्याग-समान ही है। शरीरादि में ममत्व का अभाव होने से वे नहीं होने के समान ही हैं। आयुकर्म नाश हुए बिना शरीर नहीं छूटता किन्तु शरीर के प्रति ममत्व छूट सकता

है। अरिहन्तों के भी बाह्य में शरीर तो विद्यमान है किन्तु उनके ममत्व का नितान्त अभाव है, इस कारण उन्हें शरीर का भी परिग्रह नहीं है। यदि मुनि हठपूर्वक शरीर को छोड़े तो जिनाज्ञा का भङ्ग होता है; हठ से प्राणत्याग करना तो हिंसा है।

देह का संयोग छूटना मुनि के आधीन नहीं है। वस्त्रादि का राग छूट जाने पर बाह्य में वस्त्रादि भी छूट जाते हैं — ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु वस्त्र की भाँति, शरीर के प्रति ममत्व छूट जाने पर शरीर भी छूट जाए — ऐसा नियम नहीं है। देह तो परमाणुओं का संयोग है, उसका वियोग आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने पर होता है किन्तु उसका ममत्व छोड़कर निर्मोही चैतन्यस्वभाव में जागृत रहना, उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

मुनियों के शरीर, वाणी, पुस्तकादि विद्यमान होने पर भी उनके प्रति वे किञ्चित् ममत्व नहीं रखते, इसलिए उनके उत्तम आकिञ्चन्यधर्म है।

प्रश्न — मुनियों को जिस प्रकार शरीरादि बिना ममत्व के होते हैं; उसी प्रकार बिना ममत्व वस्त्र भी माने जाएँ तो इसमें क्या आपत्ति है?

उत्तर — शरीर, आहार, पुस्तक इत्यादि तो संयम के निमित्त हैं; वस्त्र संयम के निमित्त नहीं है, वस्त्र तो राग के-असंयम के निमित्त हैं। बुद्धिपूर्वक वस्त्र रखे, वस्त्र की ओर का विकल्प हो तथापि कोई कहे कि मुझे उसके प्रति राग नहीं है तो उसकी बात मिथ्या है।

वस्त्र का संयोग तब निर्ममत्वरूप से गिना जाता है कि जब मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त आत्मध्यान में लीन हों एवं बाह्य

पदार्थों का लक्ष्य ही न हो, उस समय अन्य कोई आकर उनके ऊपर वस्त्र डाल जाये तो उस समय उसे वस्त्र को परीषह माना जाता है क्योंकि उस समय उन मुनि को वह वस्त्र राग का नहीं, किन्तु ज्ञान का निमित्त है; उस वस्त्र के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है।

वस्त्र धारण करने का राग होने पर भी यदि मुनिपना माने तो उस जीव के सम्यग्दर्शन भी नहीं होता। मुनिदशा का और निर्ग्रन्थता का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु मुनिदशा और वस्त्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र के प्रति ममत्व छूट जाने के पश्चात् वस्त्र धारण करने की बुद्धि हो ही नहीं सकती। वस्त्र त्याग करने की क्रिया आत्मा की नहीं है; वस्त्र तो स्वयं उनके अपने कारण से छूटते हैं किन्तु वस्त्र का राग छोड़ने पर बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्र का सङ्ग होता होता ही नहीं — ऐसा नियम है।

मुनिदशा में विकल्प के समय शास्त्र इत्यादि का आलम्बन होता है किन्तु उनका भी आग्रह नहीं होता, फिर वस्त्र धारण करने का राग तो अशुभभाव है; वह तो मुनिदशा में होता ही नहीं। वास्तव में शास्त्र तो वीतरागभाव का निमित्त है। जब साक्षात् वीतरागभाव में लीनता नहीं होती और विकल्प उठता है, उस समय अशुभभाव से बचकर जितना वीतरागभाव स्थिर रखता है, उतना ही परमार्थ से उत्तम आकिञ्चन्यधर्म कहा जाता है। उस समय के शुभराग को उपचार से आकिञ्चन्यधर्म कहा जाता है। जिसे शुभराग का ममत्व है, उसके तो मात्र अधर्म है। धर्म, राग का ममत्व छोड़कर, रागरहित स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही होता है।

कोई स्वच्छन्दी जीव ऐसा कहे कि जैसे मुनियों को शरीर के

प्रति ममत्व न होने पर भी शरीर होता है, वैसे ही हमारे अन्तरङ्ग में ब्रह्मचर्य का भाव प्रवर्तमान है, तथापि बाह्य में स्त्री का सङ्ग हो तो क्या विरोध है ? तो उसकी बात बिल्कुल विपरीत है। शरीर तो आयुकर्म के कारण ममत्वरहित के भी हो सकता है किन्तु स्त्री सङ्ग अब्रह्मचर्यरूप पापभाव के बिना नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य का भाव हो और स्त्री-सङ्ग की बुद्धि हो — ऐसा नहीं होता।

जो शरीर और शास्त्र के प्रति ममत्व करता है, उस मुनि के भी जिन आज्ञा का भङ्ग है। मुनि का अर्थ है, अत्यन्त निस्पृह वीतरागता। मुनि आकाश की तरह निरालम्बी वृत्तिवाले होते हैं। वे दिन में एकबार आहार लेते हैं, वह भी शरीर के ममत्व के कारण नहीं लेते किन्तु संयम के निर्वाह की वृत्ति से लेते हैं। आहार लेने को जाते हुए यदि आहार में दोष का विकल्प उठे तो अन्तराय जानकर, आहार की वृत्ति को तोड़कर किञ्चित्मात्र खेद के बिना लौट जाते हैं और पश्चात् आत्मानुभव में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें शरीर से भी अत्यन्त विरक्ति होती है और अपने स्वभाव में वीतरागता का मंथन करते हैं। ऐसे मुनियों के उत्तम आकिञ्चन्यधर्म होता है, वह मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार उत्तम आकिञ्चन्यधर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ। ●

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म

धर्मात्मा जयकुमार देवियों द्वारा डिगाने के प्रयत्न करने पर भी ब्रह्मचर्यधर्म से विचलित नहीं हुए।

रावण द्वारा अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये जाने पर भी भगवती सीता, अपने ब्रह्मचर्य में अविचल रहीं।

जगत के समस्त विषयों से उदासीन होकर जिन्होंने ब्रह्मस्वरूप निज आत्मा में ही चर्या / लीनता की है – ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म के आराधक सन्त-धर्मात्माओं को नमस्कार हो।

हे सन्तों! हमें भी ***उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म*** *की आराधना प्रदान करो।*

उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म

आज दशलक्षण पर्व का अन्तिम दिन है। आज उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का दिन माना जाता है। 'ब्रह्म' का अर्थ है, आत्मा का स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। विकार और पर के सङ्ग से रहित आत्मस्वभाव कैसा है ? — यह जाने बिना उत्तम ब्रह्मचर्य नहीं होता। लौकिक ब्रह्मचर्य, शुभराग है; धर्म नहीं है और उत्तम ब्रह्मचर्य, धर्म है; राग नहीं।

वस्तुतः शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि के बिना विषयों की रुचि दूर नहीं होती। मेरी सुखदशा, मेरे ही स्वभाव में से प्रगट होती है, उसके प्रगट होने में मुझे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है — ऐसी पर से भिन्न स्वभाव की दृष्टि हुए बिना, विषयों की रुचि नहीं छूटती। बाह्य में विषयों का त्याग कर दे किन्तु अन्तरङ्ग से विषयों की रुचि दूर नहीं करे तो वह ब्रह्मचर्य नहीं है। कोई स्त्री, घरबार छोड़कर त्यागी हो जाए, अशुभभाव छोड़कर शुभभाव करे किन्तु उस शुभभाव में रुचि एवं धर्मबुद्धि है तो उसके वास्तव में विषयों की रुचि दूर नहीं हुई है। शुभ अथवा अशुभविकार परिणामों में एकताबुद्धि ही अब्रह्मपरिणति है और विकाररहित शुद्ध आत्मा में परिणाम की एकता ही ब्रह्मपरिणति है। यही परमार्थ ब्रह्मचर्यधर्म है।

यहाँ सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनि की चारित्रदशा के उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की बात है। जगत के सर्व विषयों से उदासीन होकर आत्मस्वभाव

में चर्या प्रगट हुई — वह ब्रह्मचर्य है और उसके फलस्वरूप उनको परमात्मपद अवश्य मिलेगा ही। स्वभाव में एकता की और पर से निरपेक्ष हुआ — वहाँ जो वीतरागभाव प्रगट हुआ, वह ब्रह्मचर्यधर्म है। ब्रह्मचर्यधर्म का वर्णन करते हुए श्री पद्मनन्दि मुनिराज कहते हैं कि —

(स्रग्धरा)

यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघधारं,
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृतिभ्रान्तिसंसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः, शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिव हरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥१०४॥

इस श्लोक में 'अमलमति' शब्द वजनदार है। अमलमति का अर्थ है, पवित्रज्ञान-सम्यग्ज्ञान। जिनके सम्यग्ज्ञान हुआ है — ऐसे आत्मा कदापि स्त्री आदि में सुखबुद्धि नहीं करें। आत्मा में एकाग्र रहनेवाले मुमुक्षु और मुनिजन कभी भी स्त्री का सङ्ग-परिचय न करें। स्त्री आदि विषयों में सुखबुद्धि करने से, जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि जैसे कुम्हार के चाक का आधार कीली है और उस चाक पर रखे हुए मिट्टी के पिण्ड के अनेक आकार बनते हैं; वैसे ही इस संसाररूपी चाक का आधार स्त्री है और अनेक प्रकार के विकार करके, जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। जो मोक्षाभिलाषी जीव सम्यग्ज्ञानपूर्वक विषयों की रुचि छोड़कर, उन स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री के समान मानता है, उसके ही उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म का पालन होता है। जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है और मोह शान्त हो गया है — ऐसे ब्रह्मचारी आत्माओं को कदापि स्त्रीसङ्ग नहीं करना चाहिए।

जहाँ उपदेश में निमित्त की मुख्यता से कथन आयें, वहाँ उनका सच्चा भावार्थ समझ लेना चाहिए। यहाँ पर स्त्री को संसार का आधार कहा है, वह निमित्त की अपेक्षा से है। वास्तव में कहीं स्त्री, जीव को परिभ्रमण नहीं कराती किन्तु अपने स्वभाव से हटकर, स्त्री की सुन्दरता में और विषय में जीव का रुचि हुई — वह मिथ्यापरिणति है तथा वही संसार का आधार है।

वस्तुत: तो स्वभाव की अपेक्षा एवं पर की उपेक्षा ही ब्रह्मचर्य है और वह मोक्ष का आधार है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहिले भी जिज्ञासु जीवों को विषयों की मिठास छूटकर ब्रह्मचर्य का प्रेम होता है। जिसके अन्तर में विषयों की मिठास भरी है, उस जीव को चैतन्य तत्त्व की प्रीति नहीं है। चैतन्य का सहजानन्द विषयरहित है। उस सहज-आनन्दमय चैतन्यस्वरूप की रुचि छूटकर, जिसे इन्द्राणी आदि की ओर के राग में मिठास आती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। निमित्तों की उपेक्षा करके स्वभाव में एकता करना, ब्रह्मचर्य है, वह मुक्ति का कारण है और आत्मा की निमित्तों की अपेक्षा है — ऐसी पराश्रितदृष्टि विषय है, वह संसार का कारण है।

यदि आत्मस्वभाव की प्रतीति के बिना, स्त्री को छोड़कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है तो वह पुण्य का कारण है किन्तु उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म नहीं है और उससे कल्याण नहीं होता। विषयों में सुखबुद्धि अथवा निमित्त की अपेक्षा का उत्साह संसार का कारण है। यहाँ पर जिस प्रकार पुरुष के लिए स्त्री को संसार का कारणरूप कहा है; उसी प्रकार स्त्रियों को भी पुरुष की रुचि संसार का कारण है।

आचार्यदेव कहते है कि यदि इस जगत में स्त्री नहीं होती तो यह संसार भी नहीं होता अर्थात् जीव की दृष्टि यदि स्त्री आदि निमित्तों पर नहीं होती तो उसकी दृष्टि स्वभाव पर होती और स्वभावदृष्टि होती तो यह संसार नहीं होता। स्वभावदृष्टि से स्वभाव का आनन्द प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जब जीव ने स्वभावदृष्टि को छोड़कर, मिथ्यात्व से स्त्री आदि में सुख माना, तब स्त्री को संसार का कारण कहा गया। कोई स्त्री आदि निमित्त के आश्रय से राग करके ऐसा माने कि 'इसमें क्या अड़चन है?' अथवा 'इसमें सुख है' — तो ऐसा माननेवाला जीव, स्वभाव का आश्रय चूककर संसार में परिभ्रमण करता है। अपना शुद्ध आत्मस्वभाव तो परम आनन्द का कारण है किन्तु उसे भूलकर निमित्त का आश्रय किया — इस कारण उस निमित्त को ही संसार का कारण कह दिया है। यह क्षणिक संसारभाव जीव के स्वभाव के आधार से नहीं होता किन्तु निमित्त के आधार से होता है — ऐसा बताने के लिए स्त्री को संसार का आधार कहा है। जैसे छोटी-सी कीली के आधार पर चाक घूमता है; वैसे ही अपनी परिणति की गहराई में पराश्रय में सुख मानता है, उस मान्यतारूपी धुरी के ऊपर जीव अनन्त प्रकार के संसार में भ्रमण करता है, जीव के संसारचक्र की धुरी मिथ्यात्व है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि —

'इस समस्त संसार की रमणी नायकरूप,
वो तजते सब ही तजा, केवल शोकस्वरूप।'

यह बात भी निमित्त की अपेक्षा से है। वास्तव में स्त्री, संसार का कारण नहीं है। पूर्वभवों में अनन्त बार द्रव्यलिङ्गी साधु होकर, स्त्री का सङ्ग छोड़ा और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया, तथापि कल्याण

नहीं हुआ। वस्तुत: तो अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर निमित्त का — पुण्य का — व्यवहार का आश्रय मानना ही मैथुन है। पुण्य-पाप भावों की रुचि ही महान भोग है। उसके बाह्य में कदाचित् संयोग न दिखलाई दे किन्तु अन्तरङ्ग में तो प्रतिक्षण विकार का ही उपभोग करता है।

पुरुष के ही पूर्ण वीतरागी ब्रह्मचर्यदशा हो सकती है, इसलिए शास्त्रों में पुरुष की मुख्यता से ब्रह्मचर्यधर्म कथन है। स्त्री को पाँचवें गुणस्थान तक की ही दशा होती है, विशेष उच्चदशा नहीं होती। पञ्च परमेष्ठी पद में स्त्री का स्थान नहीं है; इस कारण शास्त्रों में स्त्री की बात मुख्यरूप से नहीं आती किन्तु गौणरूप से उसकी भूमिका के अनुसार समझना लेना चाहिए। स्त्री के लिए पुरुष के सङ्ग की रुचि संसार का कारण है।

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की नववाड़ कही है। वह नववाड़ उस प्रकार के राग से बचने के लिए है किन्तु 'परद्रव्य हानि करता है' — ऐसा बतलाने के लिए नहीं कही है। अपने भाव शुद्ध हैं और परद्रव्य हानि नहीं पहुँचाते, इसलिए वाड़ तोड़ने में क्या आपत्ति है? स्त्री आदि के परिचय में क्या अड़चन है? — ऐसे कुतर्क से यदि रुचिपूर्वक ब्रह्मचर्य की वाड़ को तोड़े तो वह जीव जिनाज्ञा का भङ्ग करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

'परद्रव्य हानि नहीं करते इसलिए ब्रह्मचर्य की वाड़ को तोड़ने में क्या बाधा?' अर्थात् स्वद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर, परद्रव्य का अनुसरण करने में बाधा क्या है? — ऐसी बुद्धिवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। हे स्वच्छन्दी! परद्रव्य हानि नहीं करते, यह बात तो ऐसी ही है

किन्तु यह जानने का प्रयोजन तो परद्रव्य से विमुख होकर, स्वभाव में सन्मुख होना था या स्वच्छन्दरूप से परद्रव्यों के अनुसरण करने का? जैसे परद्रव्य हानि नहीं करते, वैसे ही परद्रव्य से तुझे लाभ भी नहीं होता — ऐसा समझनेवाले को पर के सङ्ग की भावना ही कैसे होगी?

पर से हानि नहीं है, इसलिए पर का सङ्ग करने में बाधा नहीं है — ऐसी जिसकी भावना है, वह जीव स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है; वह तत्त्व को नहीं समझा है। जो तत्त्वज्ञान वीतरागता का पोषक है, उस तत्त्वज्ञान की ओट में स्वच्छन्दी जीव अपने राग का पोषण करता है; उसे कभी भी यथार्थ तत्त्वज्ञान परिणमित नहीं होता।

'अहो! मेरे आत्मा को पर से कुछ भी लाभ-हानि नहीं है' — ऐसा समझने से तो पर की भावना छूटकर, स्वभाव की भावना होती है। उसके बदले जिसको स्वभाव की भावना तो नहीं हुई किन्तु पर के सङ्ग की रुचि हुई — वह मिथ्यादृष्टि है, वीतरागमार्ग से भ्रष्ट है; उसने विकार को विघ्नकारक नहीं माना। पहले तो स्त्री आदि के सङ्ग से पाप मानकर भयभीत रहता था और अब पर से हानि नहीं है — ऐसा मानकर, नि:शङ्करूप से राग के प्रसङ्गो में युक्त होकर स्वच्छन्दता का पोषण करता है — ऐसे जीव को विकार और स्वभाव का भेदज्ञान करने की महिमा नहीं है। उसमें सत् को समझने एवं सुनने की भी पात्रता नहीं है।

ज्ञानमूर्ति चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक जो नववाड़ है, वह उस प्रकार के अशुभराग का अभाव बतलाती है। ब्रह्मचारी जीव के वैसा अशुभराग सहज ही नष्ट हो गया है। ब्रह्मचारी हो और स्त्री के

परिचय का भाव आये — ऐसा नहीं होता। यदि कोई जीव ब्रह्मचर्य की वाड़ तोड़कर स्त्री का सङ्ग अर्थात् परिचय करे, उसके साथ एकान्तवास करे, तथापि ऐसा कहे कि 'मैं तो ब्रह्मचर्य की परीक्षा करता हूँ' तो ऐसा जीव पराश्रय की रुचि से संसार में भ्रमण करेगा। हे भाई! तुझे स्त्री का परिचय करने की आकाँक्षा हुई, वहीं तेरी परीक्षा हो गई कि तुझे ब्रह्मचर्य का यथार्थ रङ्ग नहीं है। यदि तुझे परीक्षा करना है तो स्वभाव के आश्रय से कितना वीतरागभाव स्थिर होता है — उस से परीक्षा कर।

यहाँ पर तो मुनियों के, सम्यग्दर्शनपूर्वक कैसा उत्तम ब्रह्मचर्य होता है? उसकी उत्कृष्ट बात है। वास्तव में तो वीतरागभाव ही धर्म है किन्तु उसके पूर्व निमित्तरूप से ब्रह्मचर्य का शुभराग था, उसे छोड़कर वीतरागभाव हुआ — ऐसा बतलाने के लिए, उस शुभराग को उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म कहा है। जब मुनिराज के शुद्धोपयोग में रमणता न रहे और विकल्प उत्पन्न हों, तब वे ब्रह्मचर्यादि पञ्च महाव्रत पालते हैं, उस समय कदाचित् स्त्री की ओर लक्ष्य जाए तो अशुभवृत्ति न होकर, उसके प्रति माता-बहिन अथवा पुत्री के समान विकल्प होता है और उस शुभविकल्प का भी निषेध प्रवर्तमान रहता है; इस कारण वहाँ पर भी उत्तम ब्रह्मचर्य है।

स्त्री आदि के परलक्ष्य से जो शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है, वह तो राग है; वह परमार्थ से ब्रह्मचर्य नहीं है किन्तु त्रैकालिक शुद्धस्वभाव की रुचि के बल से, उस स्त्री आदि की ओर के विकल्प की रुचि को मिटाता हुआ विकल्प हुआ है; इसलिए उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं और उस विकल्प का भी अभाव करके साक्षात् वीतरागभाव प्रगट करना, वह परमार्थ से उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म है, जो कि केवलज्ञान का साक्षात् कारण है।

जिसने स्वभावदृष्टि छोड़कर स्त्री में ही सुख माना है, उसे अनन्त संसार में भ्रमण होता है और उसके लिए स्त्री ही संसार का कारण है — ऐसा कहा जाता है। भरत चक्रवर्ती गृहस्थदशा में क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे और हजारों रानियाँ थीं, तथापि उनमें स्वप्न में भी सुख की मान्यता नहीं थी, तथा उनके प्रति राग था, उसे भी अपना स्वरूप नहीं मानते थे। इसलिए उन्होंने स्वभावदृष्टि के बल से, उस राग को छेदकर, त्यागी होकर उसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त की।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है — ऐसी दो पदार्थों के सम्बन्ध की बुद्धि, व्यभिचारिणी बुद्धि है — मिथ्यात्व है, वही अब्रह्मचर्य है और वही वास्तव में संसार परिभ्रमण का आधार है। जिसे एक भी अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध की वृत्ति है, उसे वास्तव में समस्त पदार्थों में एकत्वबुद्धि है, उसे भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञान के बिना ब्रह्मचर्य धर्म नहीं होता। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि स्व-पर भेदज्ञान करके, स्त्री आदि में किञ्चित् भी सुख नहीं है — ऐसा मानकर, ब्रह्मचारी सन्त एवं मुमुक्षुओं को स्त्री आदि के सन्मुख नहीं देखना चाहिए; उनका परिचय, सङ्ग नहीं करना चाहिए। सर्व परद्रव्यों के ओर की वृत्ति को तोड़कर, स्वभाव में स्थिरता का अभ्यास करना चाहिए।

अब, आचार्यदेव वीतरागी ब्रह्मचारी पुरुषों की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि —

(मालिनी)

अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्याः
हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंघ्री-
प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति॥ १०५॥

आचार्यदेव पुण्य और पवित्रता को भिन्न करके समझाते हैं। इस संसार में जिनके ऐसा सुन्दर रूपादि है कि जिसे स्त्रियाँ चाहें, वे पुण्यवन्त हैं किन्तु ऐसे पुण्यवन्त इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि भी, जिनके हृदय में स्त्री सम्बन्धी किञ्चित्मात्र विकल्प नहीं है —ऐसे वीतरागी सन्तों के चरण में मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। इसलिए पुण्य की अपेक्षा पवित्रता ही श्रेष्ठ है; अतः जीवों को पुण्य की और उसके फल की — स्त्री आदि की रुचि में न रुककर, आत्मा के वीतरागी स्वभाव की रुचि एवं महिमा करना चाहिए।

जिस पुरुष का शरीर रूपवान है, उसका स्त्री के हृदय में वास है और पुण्यवन्त है किन्तु ऐसे पुण्यवन्त जीव भी पवित्रता के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। जिनके हृदय में, स्वप्न में भी स्त्रियाँ वास नहीं करतीं, स्त्री सम्बन्धी विकल्प भी जिनके नहीं हैं अर्थात् आत्मभानपूर्वक स्त्री आदि का राग छोड़कर, जो वीतरागी मुनि हुए हैं, वे ही पुरुष इस जगत में धन्य हैं। जिन्हें स्त्रियाँ चाहती हैं — ऐसे इन्द्र और चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी, जिनके हृदय में से स्त्रियों का वास हट गया है, उन पवित्र पुरुषों को नमस्कार करते हैं, उनका स्तवन करते हैं। स्त्रियाँ पुण्यवन्त को चाहती हैं और पुण्यवन्त, धर्मात्मा सन्त को नमस्कार करते हैं; इसलिए पुण्य की अपेक्षा पवित्रता का धर्म का पुरुषार्थ उच्च है।

इन्द्राणी, इन्द्र को चाहती हैं; पद्मिनी स्त्री (स्त्रीरत्न), चक्रवर्ती को चाहती हैं; इस प्रकार स्त्रियाँ पुण्यवन्त को चाहती हैं और जगत के जीव भी पुण्यवन्त को श्रेष्ठ मानते हैं किन्तु वे चक्रवर्ती आदि पुण्यवन्त पुरुष भी मुनिराज आदि पवित्र पुरुषों के प्रति नतमस्तक होते हैं; इसलिए पवित्रता ही श्रेष्ठ है, पवित्रता चाहने योग्य है; पुण्य नहीं।

पूर्व का पुण्य श्रेष्ठ है या वर्तमान में स्वभाव का आश्रय करके पुण्य का विकल्प तोड़ दिया है, वह श्रेष्ठ है ? यहाँ पर आचार्यदेव ऐसा बतलाते हैं कि जिसने आत्मस्वभाव का आश्रय करने का पुरुषार्थ किया है, वही श्रेष्ठ है। पुण्य करके स्त्री आदि को प्रिय होने में आत्मा की श्रेष्ठता नहीं है, वह आदरणीय नहीं है। पूर्व पुण्य के फलस्वरूप स्त्री आदि की प्राप्ति हुई, उनके राग में रुकना अच्छा नहीं है किन्तु पुण्य को तृणतुल्य जानकर तथा स्त्री के प्रति राग छोड़कर, स्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रगट करना ही सर्वश्रेष्ठ है; इसलिए हे जीव! स्त्री आदि संयोगों की तथा पुण्य की प्रशंसा छोड़कर, स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता का पुरुषार्थ कर! वह धर्म है।

जो चैतन्यरूपी जहाज में चढ़कर संसारसमुद्र का पार पा रहे हैं — ऐसे सन्तों के चरणों में इन्द्र-चक्रवर्ती भी मस्तक झुकाते हैं, उन सन्तों के स्वभाव की लीनता से पर की ओर का राग ही नष्ट हो गया है, इसी का नाम उत्तम ब्रह्मचर्य है। परलक्ष्य से ब्रह्मचर्य का शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म नहीं है।

पुण्य और उसका फल तो नाशवान है और वर्तमान में भी

आकुलता / दु:ख का कारण है। पुण्यरहित आत्मस्वभाव ध्रुव है, उसके आश्रय से प्रगट हुआ ब्रह्मचर्य ही प्रशंसनीय है; पुण्य प्रशंसनीय नहीं है। जो ब्रह्मानन्द आत्मा के ज्ञानस्वरूप का आनन्द है, उसका सेवन करके मुनिजन मोक्षलक्ष्मीरूपी स्त्री की साधना करते हैं। पुण्यवन्त के तो जितने समय तक पुण्य रहेगा, उतने ही समय तक वह स्त्री को प्रिय लगेगा किन्तु जिसने चैतन्य के आश्रय से ब्रह्मचर्य प्रगट किया है, उसे सदैव मोक्षरूपी स्त्री की प्राप्ति रहती है और इन्द्रादिक सर्वोत्तम जीव भी उसे नमस्कार करते हैं; इसलिए वही भव्यजीवों को आदरणीय है।

आत्मस्वभाव में ही सुख है तथा स्त्री आदि किसी भी विषय में सुख नहीं है — सर्व प्रथम ऐसी यथार्थ श्रद्धा एवं ज्ञान करना, धर्म है।

अब, उत्तमक्षमादि दश धर्मों का वर्णन करके, आचार्यदेव उन धर्मों की महिमा बतलाते है —

(स्त्रग्धरा)

वैराग्यत्यागदारुकृतरुचिरचना चारुनिश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमित्येषु केषाम्
नो धर्मेषु त्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषु हृष्टिः॥ १०६॥

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि जो त्रिलोक के स्वामी, इन्द्रों से भी वन्दनीक हैं — ऐसे इन दश उत्तम धर्मों को धारण करने में किसे हर्ष नहीं होगा? समस्त मोक्षार्थी जीव उनका पालन सहर्ष करते हैं। यह दश धर्म मुनिदशा में होते हैं। मुनिदशा मोक्षमहल की सीढ़ी है, उसके एक ओर वैराग्यरूपी और दूसरी ओर त्यागरूपी सुन्दर सुदृढ़ काष्ठ

लगे हुए हैं तथा दश धर्मरूपी दश विशाल सीढ़ियाँ हैं। मोक्षमहल में चढ़ने की भावनावाले पुरुषों को ऐसी सीढ़ियाँ चढ़ने योग्य हैं अर्थात् इन दस धर्मों का पालन करने से जीव मुक्ति प्राप्त करता है। — ऐसे उत्तम दश धर्मों के प्रति किस मोक्षार्थी को उल्लास नहीं होगा?

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! वीतरागी दश धर्मों का ऐसा सुन्दर वर्णन सुनकर किसे व्रतादि की भावना जागृत नहीं होगी? रागरहित चैतन्यस्वभाव के आश्रय की भावना किसे नहीं होगी? आचार्यदेव स्वयं सावधानीपूर्वक दश धर्मों का पालन करते हैं; इसलिए कहते हैं कि इन दश धर्मों को सुनकर समस्त संसार को हर्ष होगा। सभी जीवों को यह धर्म सुनने से निश्चल सम्यग्दर्शन –ज्ञानपूर्वक उत्तम त्याग–वैराग्यादि की आकाँक्षा होगी। ऐसे माङ्गलिकपूर्वक यह दश धर्मों का वर्णन पूर्ण होता है।

इस प्रकार दश लक्षण धर्म के व्याख्यान पूर्ण हुए। ●

गृहस्थजन की दशा

जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मुख से तारों को निकालकर अपने को ही उसमें आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार हिताहित में विचारशून्य होकर यह गृहस्थजन भी अनेक प्रकार के आरम्भों से पाप उपार्जन करके अपने को शीघ्र ही पापजाल में फँसा लेते हैं।

- श्री ज्ञानार्णव

परिशिष्ट

दश धर्म : कुछ प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न – धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तुत: जो भाव, जीव को भव–भ्रमण एवं राग–द्वेषादि कषाय के आताप से परिशान्त करता है — ऐसा वीतरागभाव ही धर्म है। वह धर्म यद्यपि एक ही प्रकार का है, तथापि विविध विवक्षाओं से उसका प्रतिपादन अनेक प्रकार से किया गया है —

● **देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।**
संसारदु:खतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

अर्थात् जो प्राणियों को पञ्चपरावर्तनरूप संसार के दु:खों से निकालकर स्वर्ग और मोक्ष के बाधारहित सुखों को प्राप्त करा देता है, वह **धर्म** है।

● **धर्म** तो आत्मा का स्वभाव है। परद्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर, अपने ज्ञाता–दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव (ज्ञान) और ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप आचरण **धर्म** है। *(– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा २)*

● मिथ्यात्व व रागादि में नित्य संसरण करनेरूप भावसंसार से प्राणी को उठाकर जो निर्विकार शुद्ध चैतन्य में धारण कर दे, वह **धर्म** है।

(– प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा ७)

● **धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।**
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है; जैसे जीव का स्वभाव दर्शन–ज्ञानस्वरूप चैतन्यता है। दश प्रकार के क्षमादिभाव भी धर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्ररूप भी धर्म है और जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

(– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४७६)

● **इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः।**

अर्थात् जो इष्ट स्थान (स्वर्ग–मोक्ष) में धारण करता है, उसे **धर्म** कहते हैं। *(– सर्वार्थसिद्धि ९/२)*

● **भाउ विसुद्धणु अप्पणउ, धम्मु भणेविणु लेहु।**
चउगइ दुक्खहँ जो धरइ, जीउ पडंतउ एहु॥

अर्थात् निज शुद्धभाव का नाम ही धर्म है। वह संसार में पड़े हुए जीवों की चतुर्गति के दु:खों से रक्षा करता है। *(– परमात्मप्रकाश २/६८)*

● **निश्चयेन संसारे पतन्तमात्मानं धरतीति विशुद्धज्ञान दर्शन –लक्षणनिजशुद्धात्मभावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थं देवेन्द्र –नरेन्द्रादिवन्द्यपदे धरतीत्युत्तमक्षमादि... दशप्रकारो धर्मः।**

अर्थात् निश्चय से संसार में गिरते हुए आत्मा को जो धारण करे अर्थात् रक्षा करे सो विशुद्ध ज्ञान–दर्शनलक्षणवाला निजशुद्धात्मा की भावनास्वरूप धर्म है। व्यवहारनय से उसके साधन के लिए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के द्वारा जो वन्दने योग्य पद है, उसमें पहुँचानेवाला उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार का **धर्म** है।

(– वृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ३५)

● धर्म नाम स्वभाव का है। जीव का स्वभाव आनन्द है, ऐन्द्रियसुख नहीं; अत: वह अतीन्द्रिय आनन्द ही जीव का धर्म है या कारण में कार्य का उपचार करके, जिस अनुष्ठान विशेष से उस आनन्द की प्राप्ति हो, उसे भी **धर्म** कहते हैं। वह दो प्रकार का है – एक बाह्य, दूसरा अन्तरङ्ग। बाह्य अनुष्ठान तो पूजा, दान, शील, संयम, व्रत, त्याग आदि करना है और अन्तरङ्ग अनुष्ठान साम्यता व वीतरागभाव में स्थिति की अधिकाधिक साधना करना है। वहाँ बाह्य अनुष्ठान को **व्यवहारधर्म** कहते हैं और अन्तरङ्ग को **निश्चयधर्म।** निश्चयधर्म तो साक्षात् समतास्वरूप होने के कारण वास्तविक है और व्यवहारधर्म उसका कारण होने से औपचारिक। निश्चयधर्म तो सम्यक्त्वसहित ही होता है, पर व्यवहारधर्म सम्यक्त्व सहित भी होता है और उससे रहित भी।

पहला व्यवहारधर्म भी कदाचित् निश्चयधर्मरूप साम्यता का साधक हो सकता है, परन्तु तभी जबकि अन्य सब प्रयोजनों को छोड़कर मात्र साम्यता की प्राप्ति के लिए किया जाये तो। निश्चयसापेक्ष व्यवहारधर्म भी साधक की भूमिकानुसार दो प्रकार का होता है — एक सागार, दूसरा अनगार। सागारधर्म गृहस्थ या श्रावक के लिए है और अनगारधर्म साधु के लिए। पहले में विकल्प अधिक होने के कारण निश्चय का अंश अत्यन्त अल्प होता है और दूसरे में साम्यता की वृद्धि हो जाने के कारण वह अंश अधिक होता है। अत: पहले में निश्चयधर्म अप्रधान और दूसरे में वह प्रधान होता है। निश्चयधर्म अथवा निश्चयसापेक्ष व्यवहारधर्म दोनों में ही यथायोग्य क्षमा, मार्दव आदि दशलक्षण

प्रकट होते हैं, जिसके कारण ही धर्म को दशलक्षण धर्म अथवा दशविध धर्म कह दिया जाता है। *(- जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश भाग २, पृष्ठ ४६४)*

● बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना। *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३३)*

२. प्रश्न - वास्तविक धर्म एक ही प्रकार का होने पर भी प्रयोजनवश उसके कौन-कौनसे भेद जिनागम में उपलब्ध होते हैं ?

उत्तर - जिनागम में निश्चयधर्म-व्यवहारधर्म, श्रावकधर्म-मुनिधर्म, रत्नत्रयधर्म, दयाधर्म, अहिंसाधर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म इत्यादि के रूप में धर्म के भेद-प्रभेद करके धर्म के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया गया है।

३. प्रश्न - निश्चयधर्म का स्वरूप आगम में क्या बताया गया है ?

उत्तर - ● वस्तु का स्वभाव धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना, यह इसका अर्थ है; इसलिए धर्म से परिणत यह आत्मा **धर्म** ही है।

(- प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा ७-८)

● चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥

अर्थात् चारित्र ही धर्म है। जो धर्म है, सो साम्य है और मोह-क्षोभरहित (राग-द्वेष तथा मन-वचन-काय के योगोंरहित) आत्मा के परिणाम साम्य हैं।

(- प्रवचनसार, गाथा ७)

● मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।

अर्थात् मोह व क्षोभरहित अर्थात् राग-द्वेष व योगों रहित आत्मा के परिणाम धर्म हैं। *(- भावपाहुड़, गाथा ८३)*

● समदा तह मज्झत्थं सुद्धोभावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहावाराहणा भणिया॥

अर्थात् समता, मध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना — ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।

(- द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, गाथा ३५६)

● अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सहलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥

अर्थात् रागादि समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा का आत्मा में ही लीन होना धर्म है। *(- भावपाहुड़, गाथा ८५)*

● रागादिदोषरहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मः।

अर्थात् रागादि दोषों से रहित तथा शुद्धात्मा की अनुभूति सहित निश्चयधर्म होता है। *(- पञ्चास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति गाथा ८५)*

४. प्रश्न - व्यवहारधर्म का लक्षण क्या बताया गया है ?

उत्तर - ● पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मः।

अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी आदि की भक्तिपरिणामरूप **व्यवहारधर्म** होता है।

(-प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति ८/१/१८)

● गृहस्थानामाहारदानादिकमेव परमो धर्मस्तेनैव सम्यक्त्वपूर्वेण परम्परया मोक्षं लभन्ते।

अर्थात् आहारदान आदि ही गृहस्थों का परमधर्म है। सम्यक्त्व पूर्वक किये गये उसी धर्म से परम्परा मोक्ष की प्राप्ति होती है। *(-परमात्मप्रकाश, २/३)*

● व्यवहारधर्मे च पुनः षडावश्यकादिलक्षणे गृहस्थापेक्षया दानपूजादिलक्षणे वा शुभोपयोगस्वरूपे रति-कुरु।

अर्थात् साधुओं के षट्आवश्यक लक्षणवाले तथा गृहस्थों के दान-पूजादि लक्षणवाले शुभोपयोगस्वरूप व्यवहारधर्म में रति करो।

५. प्रश्न - श्रावकधर्म एवं मुनिधर्म से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - ● संपूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।

अर्थात् सम्पूर्ण और एकदेश के भेद से वह धर्म दो प्रकार है अर्थात् मुनि व गृहस्थधर्म या अनगार व सागारधर्म के भेद से दो प्रकार का है।

(- पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका ६/६४)

● एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं॥

अर्थात् श्रावकों व मुनियों का जो धर्म है, वह सम्यक्त्वपूर्वक होता है। उत्तम सुखसंयुक्त जिनेन्द्रदेव ने सागारधर्म के ग्यारह भेद और अनगारधर्म के दश भेद कहे हैं। *(-बारस अणुवेक्खा, गाथा ६८)*

६. प्रश्न - रत्नत्रय को धर्म किस प्रकार बताया गया है ?

उत्तर - ● सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराः विदुः।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र — इन तीनों की एकता को धर्म के ईश्वर तीर्थङ्कर भगवान **धर्म** कहते हैं।

(- रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा ३)

७. प्रश्न – अहिंसा व दया को धर्म क्यों कहा गया है?

उत्तर – धर्म को **अहिंसालक्षणवाला** भी बताया गया है। धर्म का आधार सत्य है। विनय उसकी जड़ और क्षमा उसका बल है। वह ब्रह्मचर्य से रक्षित है। उपशम की उसमें प्रधानता है। नियति उसका लक्षण है एवं निष्परिग्रहता उसका आलम्बन है। *(-सर्वार्थसिद्धि ९/७)*

● **धम्मो दयाविसुद्धो।**

अर्थात् धर्म दया करके विशुद्ध होता है। *(- बोधपाहुड, गाथा २५)*

८. प्रश्न – क्या उत्तमक्षमादि दशलक्षणवाला धर्म है?

उत्तर – ● **दशलक्ष्मयुतः सोऽयं जिनैर्धर्मः प्रकीर्तितः।** **अर्थात्** जिनेन्द्र भगवान ने धर्म को दशलक्षणवाला कहा है। *(- ज्ञानार्णव २/१०)*

● **उत्तमखममद्दवज्जवसच्चासउच्चं च संजमं चेव।**
तवतागमकिंचण्हं बम्हा इति दसविहं होदि।

अर्थात् उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य — ये दश भेद मुनिधर्म के हैं।

(- बारस अणुवेक्खा, गाथा ७०)

९. प्रश्न – क्या अन्य प्रकार से भी धर्म के भेदों का कथन किया गया है?

उत्तर – ● **धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद् द्विधा च त्रयं। रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः॥**

अर्थात् दयास्वरूप धर्म, गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्ररूप उत्कृष्ट रत्नत्रय के भेद से तीन प्रकार का है(तथा उत्तम क्षमादि के भेद से दश प्रकार का है।

(- पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका १/७)

● **तिविहो य होदि धम्मो सुदधम्मो अंत्थिकाय धम्मो य।**
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं॥

अर्थात् धर्म के **तीन भेद** हैं – श्रुतधर्म, अस्तिकायधर्म और चारित्रधर्म — इन तीनों में से श्रुतधर्म, तीर्थ को कहा जाता है। *(- मूलाचार, गाथा ५५७)*

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि विविध विवक्षाओं से प्रतिपादित धर्म अनेक नहीं हैं, बल्कि एक वीतरागभावरूप धर्म के प्रतिपादन की अनेक विवक्षाएँ है। इन सबका विस्तृत स्वरूप जानने के लिए जिनागम का अभ्यास अपेक्षित है। यहाँ तो दशलक्षण धर्म की चर्चा ही मुख्यतः अपेक्षित है।

१०. प्रश्न – धर्म का मूल क्या है?

उत्तर – जिनागम में सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा गया है —

● **दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।**

अर्थात् सर्वज्ञदेव ने अपने शिष्यों को '**दर्शन**' धर्म का मूल है — ऐसा उपदेश दिया है। *(- दर्शनपाहुड़, गाथा २)*

जिस प्रकार वृक्ष का मूल उसकी जड़ है, जड़ के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता सम्भव नहीं है, उसी तरह सम्यग्दर्शनरूपी जड़ के बिना धर्म की उत्पत्ति, वृद्धि और पूर्णता सम्भव नहीं है। *(- दर्शनपाहुड़, गाथा १०)*

सम्यग्दर्शन के बिना तो उग्र से उग्र धार्मिक क्रियाएँ एवं शुभभाव भी अनन्त कष्टों का निवारण करने में असमर्थ हैं। *(-रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३२)*

११. प्रश्न – सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता – इस सन्दर्भ में आगम उद्धरण प्रस्तुत कीजिए?

उत्तर – इस सन्दर्भ में निम्न आगम उद्धरणों पर ध्यान देना अनिवार्य है —

● **सम्यग्दृष्टिः स्वयमहं जातु बन्धो न मे स्या-**
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा।
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः॥

अर्थात् मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता, ऐसा मानकर जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है — ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रतादि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें, तथापि वे पापी ही हैं; क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्वरहित हैं। *(-समयसार, आत्मख्याति, श्लोक १३७)*

हे जीव! इस सम्यग्दर्शन भूमिका बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते।

(- मोक्षमार्गप्रकाश, पृष्ठ २३८)

● मोक्षमहल परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चारित्रा
सम्यक्ता न लहै, सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा।
दौल समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै
यह नरभव फिर मिलन कठिन है,जो सम्यक् नहिं होवै॥

(- छहढाला, ३/१७)

● दाणं पूजा सीलं उववासं बहुविवृपि खिवण पि।
सम्मजुदं मोक्खसुद्दं सम्मविणा दीह संसां॥

अर्थात् दान, पूजा, ब्रह्मचर्य, उपवास, अनेक प्रकार के व्रत और मुनिलिङ्ग धारण आदि सर्व एक सम्यग्दर्शन होने पर मोक्षमार्ग के कारणभूत हैं और सम्यग्दर्शन के बिना संसार को बढ़ानेवाले हैं। *(-रयणसार, गाथा २००)*

● सम्यक्त्व से रहित ज्ञान-ध्यान, असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्म-निर्जरा के कारण न होने से 'ज्ञान-ध्यान' — यह संज्ञा परमार्थभूत नहीं है।

(-धवला, १/४, ११/६)

उक्त आगम उद्धरणों से यह बात एकदम स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता, अत: वृद्धि और पूर्णता होने की तो बात ही नहीं है; इसलिए हमें सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

यहाँ इस सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण आगम उद्धरण ही प्रस्तुत किये गये हैं; जिनागम में तो ऐसे सैकड़ों-हजारों उद्धरण उपलब्ध हैं, जिन्हें यहाँ देना सम्भव नहीं है। विशेष जिज्ञासावाले पाठकों से जिनागम का अध्ययन कर अपनी जिज्ञासा शान्त करने का अनुरोध है।

१२. प्रश्न - जब धर्म एक ही प्रकार का है तो उसके दश भेद करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर - यद्यपि वीतरागभावरूप धर्म एक ही प्रकार का है, तथापि विविध अर्थात् अनेक प्रकार के विकारों के अभावपूर्वक होनेवाले वीतरागभावरूप धर्म का परिज्ञान कराने के उद्देश्य से उस वीतरागभाव का अनेक प्रकार से कथन किया जाता है। जैसे - क्रोध के अभाव में प्रगट होनेवाले वीतरागभाव को क्षमा एवं मान के अभाव में प्रगट होनेवाले भाव को मार्दव इत्यादि कहा जाता है।

वीतरागभाव के साथ पाये जानेवाले विशेष प्रकार के शुभभाव का आरोप उस वीतरागभाव पर करके उसे भी उसी नाम से पुकारा जाता है। जैसे - वीतरागभाव से परिणमित मुनिराजों की परिणति में क्षमारूप शुभभाव विद्यमान होने से उस वीतराग परिणति को भी क्षमा कहा जाता है।

इस प्रकार धर्म दश नहीं, किन्तु धर्म के लक्षण दश हैं — ऐसा समझना चाहिए।

१३. प्रश्न - प्रत्येक धर्म के साथ लगा 'उत्तम' शब्द किस बात को सूचित करता है?

उत्तर - 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की अनिवार्यता का सूचक है। आशय यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के उपरान्त होनेवाली चारित्रगुण की वीतराग परिणति व शुभभाव ही वस्तुत: निश्चय-व्यवहार उत्तमक्षमादि धर्मसंज्ञा प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के बिना वीतरागभाव नहीं होता, वीतरागभाव के अभाव में मिथ्यादृष्टि के मात्र शुभभाव को धर्मसंज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती।

चारित्रसार में कहा है — ख्याति, पूजा आदि की निवृत्ति के अर्थ 'उत्तम' विशेषण दिया गया है। *(- पृष्ठ ५८)*

१४. प्रश्न - लोक में तो कई मिथ्यादृष्टि जीव भी क्षमावान आदि देखे जाते हैं?

उत्तर - हाँ, यद्यपि लोक में बहुत से लोग आत्म-श्रद्धान और आत्म-ज्ञान के बिना भी बन्धन के भय एवं स्वर्ग-मोक्ष तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से क्रोधादि कम करते या नहीं करते से देखे जाते हैं, तथापि वे उत्तम क्षमादि दशधर्मों के धारक नहीं माने जा सकते हैं। *(- धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७)*

१५. प्रश्न - यह तो पक्षपात-सा लगता है?

उत्तर - भाई! यह पक्षपात नहीं, वस्तुस्थिति है। इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी ने लिखा है —

बन्धादिक के भय से, स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे — कोई राजादिक के भय से अथवा महन्तपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नहीं है।

वास्तव में पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित होने से क्रोधादिक उत्पन्न होते हैं; जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही

क्रोधादि उत्पन्न नहीं होते; तब सच्चा धर्म होता है।

(– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२१)

१६. प्रश्न – दशलक्षण धर्म मुनिराजों के ही होते हैं या गृहस्थों के भी होते हैं ?

उत्तर – इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि यद्यपि जिनागम में दशलक्षण धर्म का वर्णन मुख्यत: मुनिराजों की मुख्यतया से ही आया है, तथापि देशविरत श्रावक एवं सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी उनकी भूमिकानुसार ये होते हैं। मुनिराज की भूमिका में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं अप्रत्याख्यानावरणकषाय सम्बन्धी क्रोधादि के अभावपूर्वक प्रगट वीतराग परिणति निश्चय उत्तम क्षमादि धर्म एवं उस भूमिका में विद्यमान क्षमादि सम्बन्धी शुभ विकल्प व्यवहार उत्तम क्षमादि धर्म हैं। इसी प्रकार श्रावक की भूमिका में दो कषाय चौकड़ी एवं सम्यग्दृष्टि की भूमिका में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के अभावपूर्वक प्रगट होनेवाली वीतराग परिणति एवं भूमिकानुसार होनेवाला शुभभाव निश्चय-व्यवहार उत्तम क्षमादि धर्म हैं।

तात्पर्य यह है कि ये धर्म मात्र मुनियों के ही हैं — ऐसा नहीं समझना चाहिए और हमें व आपको भी इस अमूल्य मनुष्य जीवन में तत्त्वाभ्यास एवं तत्त्वनिर्णय -पूर्वक सम्यग्दर्शन प्रगट करके, उत्तम क्षमादि धर्मों का धारक बनना चाहिए।

इस सन्दर्भ में तत्त्वार्थ राजवार्तिक की २०० वर्ष प्राचीन भाषा वचनिका में पण्डित पन्नालालजी ने लिखा है —

● ''ये धर्म अविरत सम्यग्दृष्टि आदि कै जैसे क्रोधादिक की निवृत्ति होय, तैसें सम्भव होय हैं अर मुनिनि कै प्रधानपनें होय हैं।''

● **आद्योत्तमक्षमा यत्र सो धर्मो दशभेदवाक् ।**
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥

अर्थात् उत्तम क्षमा है आदि में जिसके तथा जो दश भेदों से युक्त है, उस धर्म का श्रावकों को भी अपनी शक्ति और आगम के अनुसार सेवन करना चाहिए। *(– पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका ६/५९)*

१७. प्रश्न – यदि मुनिराजों के साथ-साथ देशव्रती एवं अविरत सम्यग्दृष्टि भी उत्तम क्षमादि धर्मों के धारक हैं तो इस सन्दर्भ में यह प्रश्न है कि क्या बाहुबली के साथ युद्ध करनेवाले एवं चक्र चलानेवाले भरत चक्रवर्ती, कौरवों का सर्वनाश करनेवाले पाण्डव एवं रावण के साथ संग्राम में संलग्न रामचन्द्रजी आदि सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा भी क्या उस समय उत्तम क्षमा के धारक थे ?

उत्तर – भाई! उत्तम क्षमा का वास्तविक माप बाहर से सम्भव नहीं है; अपितु अन्तरङ्ग कषाय परिणति के अभाव के आधार पर ही सम्भव है। यह भी सम्भव है कि बाह्य में भीषण प्रतिकूलता के प्रसङ्ग में भी एकदम शान्त दिखायी देनेवाला व्यक्ति अन्तरङ्ग के मिथ्यात्व और भगवान आत्मा के प्रति अरुचिरूप अनन्त क्रोध से ग्रसित हो। शास्त्रों में इस सन्दर्भ में नौवें ग्रैवेयक तक जानेवाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी मुनिराज का उदाहरण प्रसिद्ध ही है।

यद्यपि वे बाह्य परिस्थिति में एकदम शान्त दिखलायी पड़ते हैं; तथापि उनकी शान्ति का आधार भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न क्षमाभावरूप वीतरागी परिणति नहीं है; अपितु वे यह विचारते हैं कि मैं साधु हुआ हूँ, अत: मुझे शान्त ही रहना चाहिए; शान्त नहीं रहूँगा तो लोग क्या कहेंगे ? इस भव में तो बदनामी होगी ही; पापबन्ध होने से परभव भी बिगड़ जाएगा। यदि अभी शान्त रहूँगा तो प्रशंसा तो होगी ही, पुण्यबन्ध होने से आगे भी सुख-शान्ति प्राप्त होगी अथवा शास्त्रों में मुनिराजों को क्रोध नहीं करने की आज्ञा है इत्यादि। इस प्रकार चिन्तवन से वे बाह्य में शान्त दिखने पर भी उनके मिथ्यात्वपूर्वक अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार का क्रोध विद्यमान होने से उत्तम क्षमा सम्भव नहीं है।

तथा भरत चक्रवर्ती, पाण्डव, रामचन्द्रजी आदि गृहस्थ धर्मात्मा यद्यपि चारित्रमोह के उदयवश अस्थिरतारूप क्रोधादि से उक्त कार्यों में संलग्न थे, तथापि उनके मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी क्रोधादि के अभावरूप उत्तमक्षमा से इन्कार नहीं किया जा सकता। हाँ, उनके उस क्रोध परिणाम को भी क्षमा नहीं कहा जा सकता। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त कथन द्रव्यानुयोग से सम्मत तो है ही, सिद्धान्त शास्त्र करणानुयोग से भी इसकी पुष्टि होती है।

१८. प्रश्न – इस प्रकार तो उत्तम क्षमादि धर्म भी कई प्रकार के हो जाते होंगे – जैसे सम्यग्दृष्टि की क्षमा, श्रावक की क्षमा, मुनिराज की क्षमा, अरहन्त परमात्मा की क्षमा आदि ?

उत्तर – सभी ज्ञानियों की उत्तम क्षमा में मात्रात्मक भेद तो है; जातिगत भेद

नहीं है। आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी क्रोध के अभाव में उत्तम क्षमा प्रगट होती है। आत्मानुभव की वृद्धि वालों को क्रमश: अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण के क्रोध के अभाव में उत्तम क्षमा वृद्धिंगत होती जाती है तथा संज्वलन कषाय के अभाव में आत्मा में ही अनन्तकाल तक समा जानेवाले अरहन्त परमात्मा को उत्तम क्षमा की पूर्णता होती है।

जिस प्रकार यहाँ उत्तमक्षमा के सम्बन्ध में कहा गया, उसी प्रकार समस्त धर्मों के सम्बन्ध में यथासम्भव समझ लेना चाहिए।

१९. प्रश्न – उत्तम क्षमाधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – मुनिराज को तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप प्रगट वीतराग परिणति निश्चय उत्तम क्षमा है और बाह्य में क्रोध के कारणभूत निन्दा, गाली आदि के प्रसङ्गों में भी क्रोधित न होना **व्यवहार उत्तम क्षमा** है।

मिथ्यादृष्टियों के द्वारा बिना कारण वध करने पर भी अमूर्त परमब्रह्मरूप मेरे आत्मा की हानि नहीं होती — ऐसा समझकर परमसमरसी भाव में स्थित रहना, वह **उत्तम क्षमा** है। *(– नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा ११५)*

● **कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।**
ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति॥

अर्थात् क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता है, उसके **(व्यवहार) उत्तम क्षमाधर्म** होता है।

(– बारस अणुवेक्खा, गाथा ७१)

दूसरे लोग तुम्हें हानि पहुँचायें, उसके लिए तुम उन्हें क्षमा कर दो और यदि तुम उस हानि को भुला सको तो यह और भी अच्छा है। उपवास करके तपश्चर्या करनेवाले निस्सन्देह महान हैं, पर उनका स्थान उन लोगों के पश्चात् ही है, जो अपनी निन्दा करनेवालों को क्षमा कर देते हैं। *(– कुरल काव्य, १६/ २,१०)*

२०. प्रश्न – उत्तम मार्दवधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – मृदुता अर्थात् कोमलता का भाव **मार्दव** है। सामान्यतया मान कषाय के अभाव को **मार्दव** कहते हैं। विशेषरूप से जाति आदि आठ प्रकार के मद के आवेश से होनेवाले अभिमान अथवा मैं परद्रव्य का कुछ भी कर सकता हूँ — ऐसी मान्यतारूप अहंकारभाव को जड़मूल से उखाड़ देना सो **उत्तम मार्दवधर्म** है।

● **कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।**
जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स॥

अर्थात् जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय में थोड़ा-सा भी घमण्ड नहीं करता है, उसके **मार्दवधर्म** होता है।

(– बारस अणुवेक्खा गाथा ७२)

२१. प्रश्न – उत्तम आर्जवधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – ऋजुता अर्थात् सरलता का भाव **आर्जव** है। सामान्यतया माया कषाय के अभाव को **आर्जव** कहते हैं। विशेषरूप से जो मुनि मन में कुटिल चिन्तवन नहीं करता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, वह मुनि **उत्तम आर्जवधर्म** का धारी होता है।

(– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३९६)

● **योगस्यावक्रता आर्जवम्। अर्थात्** योगों का वक्र न होना आर्जव है।

(– सर्वार्थसिद्धि ९/६/४१२/६)

२२. प्रश्न – उत्तम शौचधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – शुचिता अर्थात् पवित्रता का भाव शौच है। सामान्यतया लोभ कषाय के अभाव का नाम **शौच** है। विशेषरूप से सभी प्रकार के विकारों की अपवित्रता से आत्मा को दूर रखना **शौच धर्म** है।

● **कंखाभावणिवित्तिं किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।**
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सौचं॥

अर्थात् जो परम मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्यरूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है, उसको **शौचधर्म** होता है।

(– बारस अणुवेक्खा, गाथा ७५)

● **प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्।**

अर्थात् प्रकर्ष प्राप्त लोभ का त्याग करना शौचधर्म है।

(– सर्वार्थसिद्धि /९/६/४१२/६)

२३. प्रश्न – उत्तम सत्यधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर – सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ प्रगट होनेवाली ईमानदारी या सत्यता ही वास्तविक सत्यधर्म है।

● **जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।**
ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो॥

अर्थात् जो मुनि जिनसूत्र ही के वचन को कहते हैं, उसमें जो आचार आदि कहा गया है, उसका पालन करने में असमर्थ होने पर भी अन्यथा नहीं कहते और जो व्यवहार से भी अलीक अर्थात् असत्य नहीं कहते, वे मुनि सत्यवादी है, उनको **उत्तम सत्यधर्म** होता है।

२४. प्रश्न – उत्तम संयमधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – ● संयमनं संयमः अथवा व्रत समितिकषाय-दण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः।

अर्थात् संयमन को संयम कहते हैं; संयमन अर्थात् उपयोग को पर-पदार्थ से समेटकर आत्मसन्मुख करना, अपने में सीमित करना, अपने में लगाना। उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वलीनता ही **निश्चयसंयम** है। अथवा पाँच व्रतों का धारण करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डों का त्याग करना और पाँच इन्द्रियों के विषयों को जीतना **संयम** है।

(- धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ४, पृष्ठ १४४)

जो मुनि जीवों की रक्षा में तत्पर हुआ, गमन-आगमन आदि सब कार्यों में तृण का छेदमात्र भी नहीं चाहता है, नहीं करता है; उस मुनि के **संयमधर्म** होता है। *(- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३९९)*

२५. प्रश्न – उत्तम तपधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है, टिकाये रखता है, जोड़े रखता है, वह अध्यात्म है और वह अध्यात्म ही **तप** है।

(- नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा १२३)

● इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥

अर्थात् जो मुनि इसलोक-परलोक के सुख की अपेक्षा से रहित होता हुआ सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, तृण-कञ्चन, निन्दा-प्रशंसा आदि में राग-द्वेष रहित समभावी होता हुआ अनेक प्रकार से कायक्लेश करता है, उस मुनि के निर्मल **तपधर्म** होता है। *(- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४००)*

● समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः। **अर्थात्** समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व-स्वरूप में प्रतपन करना, विजयन करना **तप** है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावों के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप में — अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त करना **तप** है। *(- प्रवचनसार, गाथा १४ की टीका)*

२६. प्रश्न – उत्तम त्यागधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की निवृत्ति, सो त्याग है। *(- प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गाथा २३९)*

● णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे च्चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि जो जीव समस्त परद्रव्यों से मोह छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीनरूप परिणाम रखता है; उसके **त्यागधर्म** होता है। *(- बारस अणुवेक्खा, गाथा ७८)*

● संयतस्य योग्यं ज्ञानादिदानं त्यागः। अर्थात् संयत के योग्य ज्ञानादि का दान करना **त्याग** कहलाता है। *(- सर्वार्थसिद्धि ९/६)*

● परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्यागः। अर्थात् सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को **त्याग** कहते हैं। *(- राजवार्तिक ९/६)*

● परभाव को पर जानना और फिर परभाव का ग्रहण न करना सो यही **त्याग** है। *(- समयसार भाषाटीका, गाथा ३४)*

२७. प्रश्न – उत्तम आकिञ्चन्यधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – कुछ भी मेरा नहीं है — ऐसे अकिञ्चनपने के भाव को **आकिञ्चन्य** कहते हैं।

● जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स॥

अर्थात् जो मुनि मिष्ट भोजन को छोड़ता है, राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरण को छोड़ता है, ममत्व की कारण वसतिका को छोड़ता है; उस मुनि के **आकिञ्चन्य** धर्म होता है। *(- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४०१)*

● उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धि-निवृत्तिराकिञ्चन्यम्। नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः। तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्।

अर्थात् जो शरीरादि उपात्त हैं, उनमें भी संस्कार का त्याग करने के लिए

'यह मेरा है' — इस प्रकार के अभिप्राय का त्याग करना **आकिञ्चन्य** है। जिसका कुछ नहीं है, वह **अकिञ्चन** है, और उसका भाव या कर्म **आकिञ्चन्य** है। *(- सर्वार्थसिद्धि ९/६)*

२८. प्रश्न – उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – मोक्षमार्ग में ब्रह्मचर्य को अन्तिम सीढी माना गया है, क्योंकि ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमणता करना ही वास्तविक **ब्रह्मचर्य** है।

● **आत्मा ब्रह्म विविक्त बोध निलयो यत्तत्र चर्यं पर।**
स्वाङ्गासंग विवर्जितैकमनसस्तद्‌ब्रह्मचर्यं मुनेः॥

अर्थात् 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने का नाम **ब्रह्मचर्य** है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है, उसी के **ब्रह्मचर्य** होता है।

● **जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जणिंदो।**
तं जाणं बंभचेर विमुक्कपरदेहतित्तिस्स॥

अर्थात् जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनि की चर्या होती है, उसको परदेह की सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो। *(-भगवती आराधना, गाथा ८७८)*

● **जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।**
कामकहादिणिरीहो, णवविह बंभं हवे तस्स॥

अर्थात् जो मुनि स्त्रियों की सङ्गति नहीं करता है, उनके रूप को नहीं देखता है, काम की कथा आदि शब्द व उनके स्मरणादिक से रहित हो, उसके नवधा **ब्रह्मचर्य** होता है। *(- कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४०३)*

'दशलक्षण महापर्व' का नाम ही इन्हीं दशलक्षण धर्मों के आधार पर किया गया है। इस अवसर पर भी प्रतिदिन इन्हीं की चर्चा-वार्ता-पूजन आदि होते हैं, इनमें भी हमें उत्साह से भाग लेना चाहिए। ●

(- मङ्गलायतन मासिक सितम्बर २००५)

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10) श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ॰ सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा;

(13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।